अनुक्रम

क्र.सं	किताबों का नाम	पृष्ठ क्रमांक
1.	**खंड-1 सिंधु घाटी की सभ्यता**	
	इकाई-1 हड़प्पा और मोहनजोदड़ो	2-7
	इकाई-2 नगर निर्माण योजना	8-13
	इकाई-3 सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन	14-22
	इकाई-4 पतन व सातत्य	23-27
2.	**खंड-2 वैदिक काल**	
	इकाई-1 वैदिक साहित्य (वेद, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद)	28-33
	इकाई-2 ऋग्वैदिक काल (1500-1000BC) राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन	34-40
	इकाई-3 उत्तरवैदिक काल (1000-600BC) राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन	41-48
	इकाई-4 महाकाव्य काल - रामायण और महाभारत	49-55
3.	**खंड-3 छठी शताब्दी ईसा पूर्व में धार्मिक आंदोलन**	
	इकाई-1 छठी शताब्दी ईसा पूर्व में सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थिति	56-61
	इकाई-2 महावीर एवं जैन धर्म	62-69
	इकाई-3 बुद्ध एवं बौद्ध धर्म	-
	इकाई-4 भौतिकतावादी संप्रदाय – चार्वाक एवं आजीवक	70-74
4.	**खंड-4 महाजनपद से मौर्य साम्राज्य**	
	इकाई-1 महाजनपद और मगध साम्राज्य	75-83
	इकाई-2 मौर्य साम्राज्य	84-93
	इकाई-3 अशोक और उसका धम्म	94-101
	इकाई-4 मौर्य साम्राज्य का पतन	102-107

खंड - 1 : सिंधु घाटी की सभ्यता
इकाई - 1 : हड़प्पा और मोहनजोदड़ो

इकाई की रूपरेखा

- **1.1.1. उद्देश्य**
- **1.1.2. प्रस्तावना**
- **1.1.3. काल निर्धारण**
- **1.1.4. सभ्यता का नाम एवं खोज**
- **1.1.5. सभ्यता का विस्तार**
  - **1.1.5.1. मोहनजोदड़ो**
  - **1.1.5.2. हड़प्पा**
  - **1.1.5.3. चन्हुदड़ो**
  - **1.1.5.4. कालीबंगा**
  - **1.1.5.5. लोथल**
  - **1.1.5.6. सुरकोटदा**
  - **1.1.5.7. बनावली**
  - **1.1.5.8. रोपड़**
  - **1.1.5.9. रंगपुर**
  - **1.1.5.10. आलमगीरपुर**
- **1.1.6. सभ्यता के निवासी एवं निर्माता**
- **1.1.7. सारांश**
- **1.1.8. बोध प्रश्न**
- **1.1.9. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ सूची**

1.1.1. उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन द्वारा आप जान सकेंगे -

1. सभ्यता का काल–निर्धारण
2. सभ्यता की खोज एवं नामकण
3. हड़प्पा, मोहनजोदड़ो एवं अन्य स्थानों पर सभ्यता का विस्तार
4. निवासी व निर्माता

1.1.2. प्रस्तावना

आधुनिक विद्वानों के मतानुसार पृथ्वी पर धीरे-धीरे जीव-जंतुओं का विकास हुआ औरवानर जाति का एक प्राणी के रूप में विकास होते-होते मनुष्य की उत्पत्ति हुई। शनैः शनैः पुरातन प्रस्तर युग का मनुष्य सभ्यता के क्षेत्र में प्रवेश करने लगा। पत्थर, हड्डी और लकड़ी के औजार से शिकार करने वाला मनुष्य धीरे-धीरे उन्हें पालने लगा। इस प्रकार नवीन-प्रस्तर युग का प्रारंभ हुआ। मनुष्य की आजीविका का साधन कृषि और पशुपालन था। मनुष्य उस दशा में आ गया, जिसे 'सभ्यता' कहते हैं।

नूतन प्रस्तर युग के पश्चात् धातु युग का प्रारंभ हुआ। धातुओं के संज्ञान से मनुष्य ने धातु का औजार बनाना एवं कालांतर में उससे आभूषण बनाना शुरू किया। ताँबे और टिन के मिश्रण से बनने वाली कांस्य धातु का प्रयोग शुरू हुआ। इस नवीन युग को कांस्य युग कहा जाने लगा। भूगर्भवेत्ताओं तथा पुरातत्वशास्त्रियों ने अपने-अपने सिद्धांतों से इस विषय पर विशद विवेचन किया है। भारत की सर्वप्रथम उन्नत संगठित सभ्यता है 'सिंधु सभ्यता'। इस सभ्यता का निर्धारित स्थान आजकल के सिंध, बलूचिस्तान एवं दक्षिण-पश्चिम पंजाब का भाग है। हड़प्पा लाहौर और मुल्तान के बीच रावी नदी की एक पुरानी धारा के तट पर बसा हुआ पुराना स्थान है एवं मोहनजोदड़ो सिंध के लड़काना या लरकाना जिला का भाग है। यह सभ्यता पूर्व में काठियावाड़ से प्रारंभ होकर पश्चिम में मकराना तक विस्तृत थी।

1.1.3. काल निर्धारण

सिंधु सभ्यता से प्राप्त प्राचीन सामानों में ताँबे और पत्थर के बने सामानों की मात्रा बहुत ज्यादा रहने के कारण इसे ताम्र पाषाणकालीन सभ्यता भी कहा जाता है। विद्वान सिंधु घाटी की सभ्यता का काल लगभग 3250 ई.पू. से 2750 ई.पू. तक मानते हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सिंधु सभ्यता का कालानुक्रम रेडियोकार्बन तिथियों पर आधारित है। इनके आधार पर सिंधु सभ्यता का काल ई.पू. 2300 से 1750 ई.पू. तक का संकेत मिलता है। संशोधित रूप से इसका काल ई.पू. 2800/2900-2000 होता है। संभवतः यह सभ्यता अपने परिधीय स्थलों पर कुछ बाद के काल में भी विद्यमान थी। आधुनिक अनुसंधानों से भी इस तिथिक्रम की पुष्टि होती है। ईसा पूर्व 2800/2900-2000 की कालावधि को ही सिंधु सभ्यता का आधुनिक तिथि निर्धारण मान सकते हैं।

1.1.4. सभ्यता का नाम एवं खोज

'सिंधु सभ्यता', 'सिंधु घाटी की सभ्यता' और 'हड़प्पा सभ्यता' ये तीनों पर्यायवाची नाम साधारण तौर पर इसी सभ्यता के लिए प्रयोग किए जाते हैं। इनमें से प्रत्येक शब्द की एक विशिष्ट पृष्ठभूमि है। 1921 से पहले यही माना जाता था कि आर्यों के समय से ही भारतीय सभ्यता की कहानी शुरू होती है। प्रारंभ में 1921 में आधुनिक पंजाब के पश्चिमी भाग में स्थित हड़प्पा नामक स्थान से इस प्राचीन सभ्यता की जानकारी प्राप्त हुई और अगले ही वर्ष एक अन्य प्रमुख स्थल मोहनजोदड़ो की खोज हुई, तब यह सोचा गया कि इस सभ्यता का प्रसार सिंधु घाटी तक था। अतः इस सभ्यता का संकेत देने के लिए 'सिंधु घाटी की सभ्यता' शब्दावली का प्रयोग प्रारंभ हुआ, परंतु आगे चल कर अनुसंधान से यह प्रमाणित हो गया कि यह सभ्यता सिंधु घाटी तक ही नहीं, बल्कि इस घाटी की सीमाओं से पार भी दूर-दूर तक फैली थी। इसका विस्तार आधुनिक राजस्थान, हरियाणा, पूर्व पंजाब और गुजरात तक पाया गया। इस भौगोलिक विस्तार को देखते हुए ऐसा प्रतीत होने लगा

कि इसे केवल सिंधु घाटी की सभ्यता कहना पर्याप्त नहीं। तब इसके लिए 'हड़प्पा सभ्यता' का प्रयोग किया गया। हड़प्पा एक स्थान का नाम है, जो आधुनिक पंजाब में रावी नदी के बाएँ तट पर स्थित है। हड़प्पा नामक स्थल में ही सबसे पहले इस सभ्यता की जानकारी मिली। अतः इस सभ्यता का नाम हड़प्पा सभ्यता रख दिया गया।

भारत की जिस प्राचीनतम सभ्यता के मूर्त अवशेष इस समय उपलब्ध हैं, उसे इतिहासकारों ने 'सिंधु घाटी की सभ्यता' का नाम दिया है। इस सभ्यता के काल के संबंध में अभी विद्वानों में एकमत नहीं हो सका है, परंतु इस बात पर लगभग सभी सहमत हैं कि यह सभ्यता ईसवी सन् के प्रारंभ से तीन हजार साल के लगभग पुरानी है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो इस सभ्यता के प्रधान नगर थे। 1924 में भारतीय पुरातत्व विभाग के महानिदेशक सर जॉन मार्शल ने सिंधु घाटी की नई सभ्यता की खोज की घोषणा की। सर्वप्रथम उत्खनन 1921 में माधो स्वरूप वत्स और दयाराम साहनी ने हड़प्पा में किया था, जिससे ये जानकारी मिली कि ईसा से कई हजार वर्ष पूर्व हड़प्पा का नगर एक उच्चकोटि की सभ्यता का केंद्र था। कालांतर में उत्खनन से स्पष्ट हुआ कि हड़प्पा की भाँति मोहनजोदड़ो भी उसी प्राचीन सभ्यता का एक उच्च केंद्र था। 1925 ई. में अर्नेस्ट मैके ने मोहनजोदड़ो से 80 मील दक्षिण-पश्चिम में चन्हुदड़ो नामक एक अन्य नगर में खुदाई की। इस प्रदेश में अन्य अनुसंधानकर्ताओं के भी उल्लेखनीय योगदान हैं, जिनमें प्रमुख हैं एन. जी. मजुमदार, सर आरियल स्टीन (Sir Aurel Stein), मोर्टिमर व्हीलर (Mortimer Wheeler)। इन सबके अनुसंधानों से सिंधु सभ्यता के विषय में महत्वपूर्ण जानकारियाँ प्राप्त होती हैं।

जब हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो में खुदाई की गई और दोनों स्थानों पर एक जैसी ही वस्तुएँ प्राप्त हुई, तो विद्वानों ने इसे सिंधु सभ्यता का नाम दिया, क्योंकि ये क्षेत्र सिंधु नदी और उसकी सहायक नदियों के क्षेत्र में आते हैं।

1.1.5. सभ्यता का विस्तार

सिंधु सभ्यता का विस्तार केवल सिंधु घाटी तक सीमित न होकर इसका क्षेत्र और अधिक विस्तृत था। आधुनिक भौगोलिक नामों में इस क्षेत्र के अंतर्गत बलूचिस्तान, उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रांत, पंजाब, सिंध, काठियावाड़ का अधिकांश भाग, राजपूताना और गंगाघाटी का उत्तरी भाग समाविष्ट था। विद्वानों के अनुसार सिंधु-सभ्यता के अंतर्गत इस सुविशाल प्रदेश का शासन दो राजधानियों के द्वारा होता था। पंजाब में स्थित हड़प्पा उत्तर प्रदेश की राजधानी थी और सिंधु में स्थित मोहनजोदड़ो दक्षिण प्रदेश की राजधानी थी।

1.1.5.1. मोहनजोदड़ो — यह नगर सिंध के लरकाना जिले में स्थित था। यह लगभग एक वर्ग मील में फैला हुआ था। योजना की सुविधा के लिए इसे पूर्वी और पश्चिमी दो भागों में बाँटा गया था। पूर्वी खंड की अपेक्षा पश्चिमी खंड छोटा है, इसे चबूतरा बना कर ऊँचा उठाया गया है। चबूतरा गारे और कच्ची ईंटों से बना है, इसके चारों ओर किलेबंदी की दीवारें बनी हैं। इसमें मीनारें एवं बुर्ज भी बने हैं। पश्चिमी खंड में अनेक सार्वजनिक भवनों की जानकारी मिलती है। इन भवनों से वहाँ की समृद्धि की जानकारी मिलती है। मोहनजोदड़ो में एक ऐसे भवन का अवशेष मिला है, जो खंभे के सहारे खड़ा है। उत्खनन से यहाँ कई छोटे-छोटे मकानों के अवशेष भी मिले हैं। इसी खंड में एक बहुत बड़ा तालाब भी मिला है। इस विशाल तालाब की व्याख्या औपचारिक स्नानागार के रूप में की गई है।

मोहनजोदड़ो के पश्चिमी हिस्से की तुलना में पूर्वी खंड बड़ा है। यह खंड भी चारों तरफ से दीवार से घिरा था। यहाँ अलग-अलग घर अलग-अलग चबूतरे पर बने थे। चबूतरे का इस्तेमाल शायद सुरक्षा के दृष्टिकोण से होता था। चबूतरे के कारण मोहनजोदड़ो का पश्चिमी भाग अधिक ऊँचे पर बसा था और पूर्वी खंड कम ऊँचा था।

1.1.5.2. हड़प्पा — यह स्थान आधुनिक पाकिस्तान-पंजाब में रावी नदी के बाईं ओर स्थित था। मोहनजोदड़ो के समान हड़प्पा शहर भी योजना के दृष्टिकोण से दो भागों में बँटा था। पहला खंड शहर के पूर्वी भाग में स्थित था तथा दूसरा भाग पश्चिम में। पश्चिमी खंड चारों तरफ से दीवारों से घिरा था एवं ऊँचे चबूतरे पर स्थित था। इस खंड में आने और जाने के लिए कई मार्ग बने हुए थे। इसका मुख्य मार्ग उत्तर में खुलता था, जिससे कुछ दूरी पर ही रावी नदी थी।

1.1.5.3. चन्हुदड़ो — यह सिंध प्रांत में स्थित है। प्राचीन काल में यहाँ से सिंधु नदी बहती थी, यद्यपि आज उससे दूर हो गई है।

1.1.5.4. कालीबंगा — इस स्थान के भी दो खंड थे। पश्चिमी खंड को पश्चिमी टीला भी कहा जाता था, इस भाग में भी किलेबंदी थी, लेकिन यह किलेबंदी दो भागों में बँटी थी। इन दोनों भागों में आपस में संबंध था।

1.1.5.5. लोथल — सिंधु क्षेत्र की एक प्रमुख बस्ती लोथल भी थी। यह आधुनिक गुजरात में स्थित थी। प्राचीन काल में यह साबरमती और भोगावस (Bhagavo) नदियों के संगम पर स्थित था। ऐसा ज्ञात होता है कि हड़प्पा सभ्यता का यह एक बंदरगाह था। यह भी एक विशाल दीवार से घिरा हुआ था। ऐसा घेरा संभवतः नगर को बाहर से सुरक्षित रखने के लिए किया गया था। शहर का दक्षिण-पूर्व भाग एक बड़े चबूतरे के समान है, जो लगभग चार मीटर ऊँचा है। इस चबूतरे के ऊपर छोटे चबूतरों की कई कतारें हैं, जिनके बीच से संकीर्ण रास्ते गुजरते हैं। यहाँ आवास क्षेत्र के बाहर एक कब्रिस्तान भी मिला है।

1.1.5.6. सुरकोटदा — यहाँ केवल एक ही टीला मिला है। कालीबंगा के समान यह भाग भी चहारदीवारी से घिरा था। दो अलग-अलग चहारदीवारी मिली हैं, जो आपस में एक दूसरे से जुड़ी हैं। कालीबंगा के पश्चिमी टीले की योजना की पुनरावृत्ति ही यहाँ दिखाई देती है।

1.1.5.7. बनावली — प्राचीन काल में यहाँ सरस्वती नदी बहती थी। इस स्थान की योजना सुरकोटदा तथा कालीबंगा के पश्चिमी टीले से मिलती-जुलती है। यहाँ भी दो किलेबंदियाँ थीं, जो आपस में एक-दूसरे से मिली हुई थीं। एक भाग में विशिष्ट वर्ग के लोग रहते थे तथा दूसरी चहारदीवारी में पूजापाठ का कार्य संपन्न किया जाता था।

1.1.5.8. रोपड़ — सतलज नदी पर स्थित इस स्थान पर सिंधु सभ्यता की अति महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई है। पत्थरों और मिट्टी से यहाँ के मकान बने थे। यहाँ एक कब्रिस्तान भी मिला है।

1.1.5.9. रंगपुर — यह स्थान लोथल से केवल 50 किलोमीटर उत्तर-पूर्व में स्थित है। यहाँ से पूर्व सिंधु सभ्यता के मिट्टी के बर्तन मिले हैं। यहाँ प्राप्त कच्ची ईंटों के दुर्ग, नालियाँ, मृद्भांड, बाट, पत्थर के फलक, मिट्टी के भांड आदि उल्लेखनीय हैं।

1.1.5.10. आलमगीरपुर — यह उत्तरप्रदेश में मेरठ के निकट हिण्डन नदी के तट पर स्थित है। यहाँ से जो सामग्री मिली है वह सिंधु सभ्यता के अवनति काल की है। इसमें मिट्टी के बर्तन, मनके और मुहरें सम्मिलित हैं।

1.1.6. सिंधु सभ्यता के निवासी एवं निर्माता

सिंधु सभ्यता के निवासी एवं निर्माता के बारे में विद्वानों में एकमत नहीं है। कुछ इतिहासकारों ने इस सभ्यता को आर्येत्तर सभ्यता कहा है तथा कुछ दूसरे विद्वानों ने द्रविड़ सभ्यता। सिंधु सभ्यता की तुलना आर्यों से करने पर मुख्य प्रश्न उठता है कि आर्य लोग घोड़े एवं लोहे से परिचित थे, जबकि सिंधु वासी इनसे अनभिज्ञ। सिंधु सभ्यता नगरीय थी, जबकि आर्यों का जीवन ग्रामीण व्यवस्था पर आधारित था। धार्मिक प्रचलनों में भी इन दो सभ्यताओं में काफी अंतर प्रतीत होता है। इन सभी आधारों पर सिंधु सभ्यता एवं वैदिक सभ्यता में काफी अंतर प्राप्त होता है। विद्वानों के अनुसार सिंधु सभ्यता एवं मेसोपोटामिया की सभ्यता के बीच व्यापारिक संबंध था। अधिकांश विद्वान सिंधु लोगों को द्रविड़ ही मानते हैं। यह सबसे अधिक मान्य मत है। कुछ विद्वान इस सभ्यता के वासियों का संबंध मंगोलों से भी जोड़ते हैं, किंतु यह तथ्य भी पूरी तरह से मान्य नहीं है। उपर्युक्त अनेक मतों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सिंधु क्षेत्र में विभिन्न क्षेत्रों के लोग रहते थे और उनके सम्मिलित प्रयास के फलस्वरूप इस महान सभ्यता का विकास हुआ।

1.1.7. सारांश

भारत की प्राचीनतम सिंधु सभ्यता उन्नत, विकसित एवं संग्रहीत थी। आधुनिक तिथि निर्धारण के अनुसार ईसा पूर्व 2800/2900-2000 की कालावधि में यह सभ्यता फली-फूली थी। इस सभ्यता के दो मुख्य केंद्र — हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो थे। हड़प्पा आधुनिक पंजाब में रावी नदी के बाएँ तट पर तथा मोहनजोदड़ो सिंध के लरकाना जिले में स्थित था। इस सभ्यता का विस्तार बलूचिस्तान, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत, पंजाब, सिंध, काठियावाड़, राजपूताना और गंगाघाटी के उत्तरी भाग तक था। विद्वानों के अनुसार उत्तर प्रदेश की राजधानी हड़प्पा तथा दक्षिण प्रदेश की राजधानी मोहनजोदड़ो थी। इन दोनों नगरों के अतिरिक्त चन्हुदड़ो, कालीबंगा, लोथल, सुरकोटदा, बनावली, रोपड़, रंगपुर, आलमगीरपुर भी नगर थे। विभिन्न क्षेत्रों के लोगों के प्रयासस्वरूप इस सभ्यता का विकास हुआ।

1.1.8. बोध प्रश्न

1. सिंधु सभ्यता में पाए गए प्रमुख स्थानों का विवरण दीजिए।
2. सिंधु सभ्यता के काल निर्धारण पर प्रकाश डालते हुए इसके विभिन्न केंद्रों का वर्णन कीजिए।

1.1.9. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ सूची

1. पाण्डेय विमल चन्द्र. (2002). *प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास (भाग-1).* इलाहाबाद : सेंट्रल पब्लिशिंग हाउस
2. विद्यालंकार सत्यकेतु. (1987). *प्राचीन भारत.* नई दिल्ली : श्री सरस्वती सदन
3. वर्मा, दीनानाथ. (2002). *प्राचीन भारत.* नई दिल्ली : ज्ञानदा प्रकाशन
4. झा, द्विजेन्द्र नाथ एवं श्रीमाली. (1997). *प्राचीन भारत* , दिल्ली : हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
5. शर्मा, एल. पी. (2007). *प्राचीन भारत.* आगरा : लक्ष्मी नारायण अग्रवाल
6. शर्मा, रामशरण ( ), प्रारंभिक भारत का परिचय, दिल्ली : .....

खंड - 1 : सिंधु घाटी की सभ्यता
इकाई - 2 : नगर निर्माण योजना

इकाई की रूपरेखा

1.2.1. उद्देश्य
1.2.2. प्रस्तावना
1.2.3. नगर योजना का प्रारूप
1.2.4. नगर योजना
1.2.4.1. नालियाँ
1.2.4.2. भवन
1.2.4.3. मुख्य इमारतें
1.2.4.4. अन्य कलाएँ
1.2.5. सारांश
1.2.6. बोध प्रश्न
1.2.7. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1.2.1. उद्देश्य

यह इकाई सिंधु घाटी की सभ्यता की विशेषताओं के विषय में है। इस इकाई का उद्देश्य इस सभ्यता के नगर एवं व्यापार के क्षेत्र में की गई उन्नति की जानकारी देना है। भवन-निर्माण एवं अन्य कलाओं के क्षेत्र में इस सभ्यता के नागरिकों ने कितना विकास कर लिया था, इससे विद्यार्थियों को अवगत कराना है।

1.2.2. प्रस्तावना

सिंधु घाटी की सभ्यता में कांस्ययुग की सर्वोत्कृष्ट विशेषताएँ परिलक्षित होती है। नगरीय एवं व्यापार प्रधान इस सभ्यता के वासियों ने आश्चर्यजनक उन्नति की थी। यह सभ्यता समष्टिवादिनी थी, उसके ध्वंसावशेष वहाँ के सामूहिक जीवन के परिचायक हैं। वहाँ की सुख शांति एवं चतुर्दिक उन्नति को देखते हुए सर जॉन मार्शल ने लिखा है, "यहाँ साधारण नागरिक सुविधा और विलास का जिस मात्रा में उपभोग करता था, उसकी तुलना समकालीन सभ्य संसार के अन्य भागों से नहीं हो सकती।"

सिंधु सभ्यता की नगर योजना की आधार सामग्री मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, चन्हुदड़ो, कालीबंगा, लोथल, सुरकोटदा और बनावली से प्राप्त होती है। इन सब स्थानों की नगरयोजना लगभग समान है। मुख्यतया यह योजना दो खंडों में विभाजित है, पश्चिमी और पूर्वी। पश्चिमी खंड अपेक्षाकृत छोटा होता था और ऊँचा उठाया जाता था। ऊँचे खंड पर दुर्ग होता था और नीचे खंड पर मुख्य नगर होता था। लोथल और सुरकोटदा में दुर्ग और नगर, दोनों को एक ही चहारदीवारी द्वारा घेरा गया था, जोकि सुरक्षा प्राचीर का कार्य करती थी, परंतु हड़प्पा नगर के चारों ओर चहारदीवारी नहीं थी। सामान्यतया दुर्ग और नगर दोनों बीच में छोड़ी हुई जगह द्वारा एक दूसरे से पृथक होते थे। ऊँचाई पर दुर्ग और नगरों को बसाने का मुख्य प्रयोजन नदियों की बाढ़ से उनकी रक्षा करना था।

1.2.3. नगर योजना का प्रारूप

सिंधु सभ्यता के सभी नगर - मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, चन्हुदड़ो, आदि नदियों के तटों पर स्थित थे। अतः इनके नगर योजना की आधार-सामग्री मोहनजोदड़ो, हड़प्पा एवं अन्य स्थानों से प्राप्त होती है। हड़प्पा रावी तट पर स्थित था, यद्यपि आज वह उससे 6 मील दक्षिण की ओर बसा हुआ है। किसी समय मोहनजोदड़ो सिंधु नदी के तट पर स्थित था, आज सिंधु नदी से साढ़े तीन मील दूरी पर है। पुरातत्ववेत्ताओं के मतानुसार इन नगरों के विनाश में भी कदाचित् नदी का योगदान रहा होगा।

इस काल के प्रायः समस्त बड़े-बड़े नगरों का निर्माण एक निश्चित व्यवस्था के आधार पर हुआ था। इस योजना का आधार नगर की प्रमुख सड़कें पूर्व से पश्चिम की ओर और उत्तर से दक्षिण की ओर जाती थीं। इस प्रकार प्रत्येक नगर कई खंडों में विभक्त हो जाता था। ये खंड मोहल्ले के रूप में हो जाते थे। सड़कें प्रायः सीधी होती थीं और एक दूसरे को समकोण पर काटती हुई आगे बढ़ती थीं। मोहनजोदड़ो में प्रधान सड़क तैंतीस फीट चौड़ी है और यह नगर के ठीक बीच में उत्तर से दक्षिण की ओर चली गई है। इस सड़क के समानांतर जो अन्य अनेक सड़कें हैं, वे भी चौड़ाई में बहुत पर्याप्त हैं। ये सारी सड़कें मिट्टी की बनी थीं, इनकी सफाई का बड़ा ध्यान दिया जाता था। इन पर स्थान-स्थान पर कूड़ा-करकट एकत्र करने के लिए मिट्टी के पात्र और पीपे रखे जाते थे। सड़कों के किनारे स्थान-स्थान पर गढ्ढे खोदे जाते थे, जिनमें कूड़ा-करकट इकट्ठा करने की व्यवस्था रहती थी। मोहनजोदड़ो की एक सड़क के दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे चबूतरे बने हुए मिले हैं, संभवतः दुकानदार इन पर बैठकर अपनी वस्तुओं का विक्रय करते थे।

1.2.4. नगर योजना

1.2.4.1 नालियाँ – सिंधु सभ्यता के सभी नगरों में गंदे पानी को नालियों द्वारा बाहर ले जाने का उत्तम प्रबंध था। प्रायः प्रत्येक सड़क और गली के दोनों ओर पक्की नालियाँ बनाई गई थीं। चौड़ी नालियों के लिए कहीं-कहीं बड़ी-बड़ी ईंटें अथवा पत्थरों का प्रयोग किया जाता था। नालियों की जुड़ाई और प्लास्टर में मिट्टी, चूने तथा जिप्सम का प्रयोग मिलता है। मकानों से आने वाली नालियाँ सड़कों की नालियों में मिल जाती थीं। इस सुयोजना के अनुसार घरों, गलियों और सड़कों का गंदा पानी नगर से बाहर निकाल दिया जाता था। नालियों को ढकने की भी व्यवस्था थी, अधिक चौड़ी नालियों को ढँकने के लिए पत्थर की शिलाएँ प्रयुक्त की जाती थीं। इसमें संदेह नहीं कि गंदे पानी की निकासी के लिए समुचित व्यवस्था थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि मकानों के गंदे पानी को शहर के बाहर ले जाने की जो उत्तम व्यवस्था सिंधु सभ्यता के नगरों में विद्यमान थी, वह प्राचीन संसार के अन्य किसी नगर में नहीं पाई जाती थी।

1.2.4.2. भवन – सिंधु सभ्यता के उत्खनन में छोटे-बड़े सभी प्रकार के भवनों के ध्वंसावशेष मिले हैं। प्रायः सभी भवनों का निर्माण नींव डाल कर होता था। ये नीवें प्रायः कच्ची अथवा टूटी-फूटी ईंटों से भरी जाती थीं। सीलन और बाढ़ से रक्षा करने के लिए कभी-कभी मकान ऊँचे-ऊँचे चबूतरों पर बनाए जाते थे। मकान की दीवार कभी धूप में सुखाई गई कच्ची ईंटों की, कभी आग में तपाई हुई पक्की ईंटों की और कभी पुराने मकानों से निकाली हुई पुरानी ईंटों से बनाई जाती थी। दुमंजिला मकानों की नीवें अधिक गहरी और पहली मंजिल की दीवारें अधिक चौड़ी बनाई जाती थीं, जिससे वे अपने ऊपर का भार सुगमतापूर्वक उठा सकें। मकानों पर

प्लास्टर अधिकतर मिट्टी का, परंतु कभी-कभी जिप्सम का भी होता था। छतों के ऊपर का पानी निकालने के लिए मिट्टी अथवा लकड़ी के परनाले बने होते थे।

इस काल के प्रत्येक अच्छे घर में आँगन, पाठशाला, स्नानागार, शौचगृह एवं कुएँ की व्यवस्था रहती थी। भोजन लकड़ी से जलने वाली अँगीठियों, चूल्हों अथवा भट्ठियों में बनता था। स्नानागार सड़क अथवा गलियों के निकट वाले भाग में बनाए जाते थे, जिससे कि नालियों द्वारा उनका पानी सरलतापूर्वक सड़क की नालियों तक पहुँचाया जा सके। स्नानागारों की फर्शें पक्की ईंटों से पटी होती थीं।

हड़प्पा सभ्यता के इन नगरों में पानी के लिए कुएँ विद्यमान थे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में बहुत से कुएँ मिले हैं, जो चौड़ाई में 2 फीट से लेकर 7 फीट तक हैं। पानी रस्सी की सहायता से निकाला जाता था, इन कुओं के किनारे पर रस्सी के निशान अब तक विद्यमान हैं। पानी निकालने के लिए कुछ कुओं पर घिरनी भी लगी रहती थी।

मोहनजोदड़ो में छोटे एवं बड़े दोनों प्रकार के मकान बनाए जाते थे। इस युग में छत बनाने की यह पद्धति थी कि पहले शहतीरें डाली जाती थीं, फिर उन पर बल्लियाँ डालकर एक मजबूत चटाई बिछा दी जाती थी। उसके ऊपर मिट्टी बिठाकर उसे भली-भाँति कूटकर पक्का कर दिया जाता था। कमरों के दरवाजे अनेक प्रकार के होते थे। कमरों में दीवारों के साथ अलमारियाँ बनाने की भी प्रथा थी। इस सभ्यता के प्रायः सभी नगरों के दरवाजे और खिड़कियाँ मुख्य सड़कों की ओर न होकर गलियों की ओर ही होते थे। इस योजना से नगर की मुख्य सड़कें निश्चित रूप से सूनी रहती होंगी। नगर के भवन अपनी सादगी के लिए प्रसिद्ध हैं।

1.2.4.3. मुख्य इमारतें - हड़प्पा में एक दुर्ग के ध्वंसावशेष मिले हैं। यह पश्चिमी टीले पर थी और नगर नीचे पूर्वी टीले पर था। उत्तर से दक्षिण की ओर की लंबाई लगभग 460 गज और पूर्व से पश्चिम की ओर की चौड़ाई लगभग 215 गज थी। यह लगभग समानांतर चतुर्भुज के आकार की थी। दुर्ग का भीतरी भाग कच्ची ईंटों द्वारा 20-25 फीट ऊँचा किया गया था। ऐसा बाढ़ से रक्षा करने के लिए किया गया होगा। दुर्ग पर स्थान-स्थान पर प्रहरियों एवं रक्षकों के लिए मीनारों और फाटकों का निर्माण किया गया था।

दुर्ग के समीप ही भंडारागारों का निर्माण किया गया था। ये 6-6 की दो पंक्तियों में प्राप्त हुए हैं। इनका मुख्य प्रवेशद्वार नदी की ओर था, ऐसा संभवतः सामग्री के आने-ले जाने के लिए किया गया होगा। कदाचित् ये भंडारागार राजकीय होंगे एवं राज्य की तरफ से ही अन्नादि का यहाँ संग्रह किया जाता होगा। आवश्यकता पड़ने पर जनता में वितरण किया जाता होगा। इन भंडारागारों के निकट अनेक गोलाकार चबूतरे मिले हैं। इन अवशेषों से प्रकट होता है कि उन सबका निर्माण राजकीय योजना द्वारा किया गया होगा।

मोहनजोदड़ो में भी एक दुर्ग के ध्वंसावशेष प्राप्त हुए हैं, जिसका निर्माण कृत्रिम पहाड़ी पर किया गया था। यहाँ भी दुर्ग का निर्माण किया गया होगा, ऐसा अनुमान है।

महास्नानागार – यहाँ सबसे महत्वपूर्ण इमारत प्राप्त हुई है – एक स्नानकुंड। यह 39 फीट लंबा, 23 फीट चौड़ा एवं 8 फीट गहरा है। इस स्नानकुंड में जाने के लिए दक्षिण और उत्तर की ओर ईंटों की सीढ़ियाँ बनी हैं। यह जलाशय पक्की ईंटों से बना है एवं इसकी दीवारें बहुत मजबूत हैं। इस कुंड की फर्श पर खड़ी ईंटें लगाई गई हैं और वे भी भली-भाँति काट-काट कर, जिससे कि बीच में दरार न रहे। फर्श की ढाल दक्षिण-पश्चिम की ओर है, पानी निकासी की भी सुदृढ़ व्यवस्था है। कदाचित् ऐसा कुंड की सफाई के लिए किया जाता होगा। इसके चारों तरफ बरामदे बने थे, जिनकी चौड़ाई लगभग 15 फीट थी। कुंड के उत्तर की ओर कुछ छोटे-छोटे

कमरे बने थे। इन कमरों में भी छोटी-छोटी नालियाँ बनी थीं। वे नालियाँ बाहर की बड़ी नालियों में मिलती थीं। कमरों के समीप सीढ़ियाँ भी थीं। विद्वानों के मतानुसार ऊपर की मंजिल पर बने हुए कमरों में पुजारी रहते थे, जो शुभ मुहुर्तों पर कुंड में स्नान करते थे। कदाचित् जनसाधारण कुंड में ही स्नान करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान हिंदू धर्म के समान सिंधु-प्रदेश के धर्म में भी पवित्र स्नानों का महत्व था।

भंडारागार – इस स्नानकुंड के पश्चिम में खुदाई करने से एक अन्य भवन का ध्वंसावशेष प्राप्त हुआ है, जोकि इतिहासकारों के मतानुसार एक विशाल भंडारागार था। इसकी दीवारें सुदृढ़ थीं एवं इसके दक्षिण की ओर एक पीठिका थी। संभवतः राज्य की ओर से वसूल किया जाने वाला अन्न यहाँ पर संग्रहीत किया जाता होगा।

स्नानकुंड के उत्तर-पूर्व में एक अन्य भवन के ध्वंसावशेष मिले हैं, इसमें कई बरामदे, कई कमरे और कई स्नानागार थे। इतिहास के विद्वानों के अनुसार इस भवन में कोई उच्च अधिकारी रहता था।

स्नानकुंड के समीप ही एक अन्य भवन के ध्वंसावशेष मिले हैं। यह भवन 80 फीट लंबा और 80 फीट चौड़ा था। इसकी छत स्तंभों पर टिकी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यह भवन किसी सामूहिक कार्य के लिए बना था।

1.2.4.4 अन्य कलाएँ – सिंधु-प्रदेश के अन्वेषण में अनेक मुद्राएँ, ताबीजें, मूर्तियाँ, खिलौने, गुड़ियाँ, आभूषण, बर्तन आदि प्राप्त हुए हैं। इन सभी वस्तुओं का निर्माण साधारण मिट्टी, चिकनी मिट्टी, काली मिट्टी, साधारण पत्थर, लाल पत्थर, चूना पत्थर, सेलखड़ी पत्थर, स्फटिक, सीप, हाथी दाँत, हड्डी, सोना-चाँदी, पीतल, ताँबा, सीसा आदि द्वारा किया जाता था।

मिट्टी के बर्तन, मुद्राएँ, मूर्तियाँ बहुतायत से प्राप्त हुई हैं, जिससे प्रतीत होता है कि कुंभकारों का व्यवसाय व्यवस्थित था। उनके अनेक भट्ठे भी प्राप्त हुए हैं। बर्तनों को पकाए जाने के कारण उनमें हल्का या गहरा लाल-नीला रंग आ गया है। इसके अतिरिक्त ऊपर से भी बर्तनों को रंगने की प्रथा थी। बर्तनों के ऊपर अनेक प्रकार का अलंकरण भी मिलता है, जिसमें मुख्य रूप से वृक्षों, पुष्पों-पत्तियों, जानवरों एवं मानव की आकृतियाँ रहती थीं। सिंधु सभ्यता में अनेक प्रकार के बर्तन भी प्राप्त हुए हैं।

सिंधु सभ्यता में प्राप्त मुद्राएँ चीनी मिट्टी अथवा साबूत पत्थर की बनी हुई प्राप्त हुई हैं। मुद्राओं के साथ बहुसंख्यक छापें भी मिली हैं। ये मुख्यतः हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, चन्हुदड़ो, लोथल जैसे व्यापारिक नगरों में ही मिलती हैं। कुछ मुद्राएँ कलात्मक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। सिंधु प्रदेश में प्राप्त पशुओं से घिरे हुए योगीश्वर शंकर की मुद्रा मिट्टी की है। हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा में अग्रभाग में एक व्यक्ति बैठा है, जो बाघ पर आक्रमण कर रहा है। इस दृश्य के नीचे एक योगस्थ व्यक्ति का दृश्य है। उसके समीप कई पशुओं का चित्र अंकित है।

मिट्टी की अन्य प्रकार की मुद्राएँ भी प्राप्त हुई हैं, जिन पर चित्र अंकित हैं। अन्वेषण में देवी, देवताओं, देवदासियों, नर्तकियों, पशुओं आदि की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इसके अतिरिक्त सिंधु प्रदेश में मिट्टी द्वारा निर्मित लिंग और योनियाँ मिली हैं, जिनकी पूजा होती थी। मिट्टी की बनी मूर्तियों में स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, खिलौने सम्मिलित हैं। जानवरों की मूर्तियों में सर्वाधिक संख्या बैल की प्राप्त हुई है। मिट्टी के बने कुछ बंदर भी प्राप्त हुए हैं।

पाषाण निर्मित वस्तुओं की संख्या कम है। पाषाण मूर्तियों में सबसे अधिक महत्व की वह मूर्ति है, जो कमर के नीचे से टूटी हुई है। यह केवल 7 इंच ऊँची है। इस मूर्ति में मनुष्य को एक ऐसा चोगा पहने हुए दिखाया गया है, जो बाएँ कँधे के ऊपर और दाईं भुजा के नीचे से गया है। मूर्ति आँखे बंद व ध्यानमग्न दिखाई

गई है। पुरुष की मूँछे मुड़ी हुई हैं, यद्यपि दाढ़ी विद्यामान है। मूर्ति की ध्यान मुद्रा से प्रतीत होता है कि इसे योगदशा में बनाया गया है। इस बात से प्रायः सभी सहमत हैं कि सिंधु सभ्यता की यह मूर्ति किसी देवता की है। एक लाल पत्थर की बनी मूर्ति भी प्राप्त हुई है। दुर्भाग्य से इसका शीश खंडित हो चुका है , परंतु शेष शरीर का अनुपात दर्शनीय है। एक अन्य काले पत्थर की मूर्ति प्राप्त हुई है, जिसमें नर्तक नाचने की मुद्रा में अपने बाएँ पैर को पृथ्वी से कुछ ऊपर उठाए है।

विभिन्न धातुओं की कलाकृतियाँ भी खुदाई में प्राप्त हुई हैं। मोहनजोदड़ो में एक कूबड़दार बैल का खिलौना मिला है। यह ताँबे की धातु काटकर बनाया गया था। ताँबे और पीतल के बने हुए कुत्ते भी मिले हैं। मोहनजोदड़ो में पीतल की बनी हुई नर्तकियाँ मिली हैं। अधिकतर वे हाथ में कड़े और गले में हँसुली पहने हुए मिली हैं।

काँस्य मूर्तियों में मोहनजोदड़ो से प्राप्त नर्तकी की मूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह मूर्ति इतनी सुंदर है कि वह बिल्कुल सजीव प्रतीत होती है। इसका शरीर दुबला-पतला है और यह नृत्यमुद्रा में है। सिर के केशों का प्रसाधन मूर्ति में बहुत ही सुंदर रूप से प्रदर्शित किया गया है।

सिंधु प्रदेश गुड़िया निर्माण के लिए प्रसिद्ध था। सोने-चाँदी, मिट्टी, पत्थर, हाथी दाँत, घोंघा आदि की भी गुड़िया अर्थात् मनका प्राप्त हुए हैं। इन गुड़ियों को विविध आभूषणों में डालकर उनकी शोभा बढ़ाई जाती थी। इन गुड़ियों में रंग, धातु अथवा पत्थर के टुकड़े जड़ने का प्रचलन था। ये गुड़ियाँ अनेक आकार और नाप की होती थीं। इस काल में गुड़ियाँ निर्माण के क्षेत्र में जितनी उन्नति हुई थी वह तत्कालीन अन्य स्थानों में देखने को नहीं मिलती है।

1.2.5. सारांश

सिंधु सभ्यता के काल में शहरी सभ्यता का विकास तीव्र गति से हुआ था। नगरीय जीवन व्यवस्थित रूप से विकसित था। घरों से गंदे पानी की निकासी हेतु ढकी हुई नालियों की समुचित व्यवस्था की जाती थी। इस सभ्यता के उत्खनन में छोटे एवं बड़े सभी प्रकार के भवन प्राप्त हुए हैं। विकसित नगरीय जीवन के अनेक प्रमाण प्राप्त हुए हैं, जिनमें मकानों का निर्माण मुख्य है। इसके साथ ही इस काल में मूर्ति कला, बरतन निर्माण कला, मुद्रा निर्माण आदि भी पूर्णतया विकसित हो चुकी थी। सिंधु सभ्यता ने जितनी उन्नति की थी, वह अन्य तत्कालीन सभ्यताओं में देखने को नहीं मिलती है।

1.2.6. बोध प्रश्न

1. सिंधु सभ्यता की नगर योजना का वर्णन कीजिए।
2. सिंधु सभ्यता के उत्खनन में प्राप्त मुख्य इमारतों की चर्चा कीजिए।
3. सिंधु सभ्यता काल में कलाएँ विकसित थीं। स्पष्ट कीजिए।

2.7 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1. पाण्डेय, विमल चन्द्र. (2002). *प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास (भाग-1)*. इलाहाबाद : सेंट्रल पब्लिशिंग हाउस।
2. विद्यालंकार, सत्यकेतु. (1987). *प्राचीन भारत.* नई दिल्ली : श्री सरस्वती सदन।
3. वर्मा, दीनानाथ. (2002). *प्राचीन भारत.* नई दिल्ली : ज्ञानदा प्रकाशन।
4. झा, द्विजेन्द्र नारायण एवं श्रीमाली (1997.) *प्राचीन भारत का इतिहास.* दिल्ली : हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय।
5. शर्मा, एल.पी. (2007). *प्राचीन भारत.* आगरा : लक्ष्मी नारायण अग्रवाल।
6. शर्मा, रामशरण, प्रारंभिक भारत का परिचय, दिल्ली

खंड - 1 : सिंधु घाटी की सभ्यता
इकाई - 3 : सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन

इकाई की रूपरेखा

1.3.1. उद्देश्य

1.3.2. प्रस्तावना

1.3.3. सामाजिक जीवन

- **1.3.3.1. पारिवारिक जीवन**
- **1.3.3.2. वेशभूषा**
- **1.3.3.3. मनोविनोद के साधन**
- **1.3.3.4. औषधियों का प्रयोग**
- **1.3.3.5. कला एवं अन्य**
- **1.3.3.6. लिपि**
- **1.3.3.7. मृतक संस्कार**

1.3.4. आर्थिक जीवन

- **1.3.4.1. कृषि एवं पशुपालन**
- **1.3.4.2. वस्त्र उद्योग**
- **1.3.4.3. शिल्पकला**
- **1.3.4.4. तकनीक तंत्र व धातु प्रयोग**
- **1.3.4.5. व्यापार एवं बाह्य संपर्क**

1.3.5. धार्मिक जीवन

- **1.3.5.1. शिव परमपुरुष की उपासना**
- **1.3.5.2. परमानारी अथवा मातृदेवी**
- **1.3.5.3. वृक्ष पूजा**
- **1.3.5.4. पशु पूजा**
- **1.3.5.5. अग्नि तथा जल पूजा**
- **1.3.5.6. प्रतीक पूजा**
- **1.3.5.7. पूजा विधि**

1.3.6. सारांश

1.3.7. बोध प्रश्न

1.3.8. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1.3.1. उद्देश्य

यह इकाई सिंधु घाटी की सभ्यता के सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन के विषय में है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप समझ सकेंगे—

1. सभ्यतावासियों के पारिवारिक जीवन
2. वेशभूषा, मनोविनोद
3. उनके व्यवसाय
4. उनकी धार्मिक मान्यताएँ

1.3.2. प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाइयों में सिंधु घाटी की सभ्यता के मुख्य केंद्रों एवं वहाँ की मुख्य विशेषताओं के बारे में चर्चा की गई है। इस इकाई में इस सभ्यता के उत्खनन से प्राप्त सामग्रियों के आधार पर वहाँ के निवासियों के पारिवारिक जीवन, उनकी वेशभूषा एवं उनके आभूषणों के प्रति आकर्षण व रुचि, उनके खान-पान आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही उनके व्यवसाय, धातु प्रयोग के क्षेत्र में उनके द्वारा की गई उन्नति एवं अन्य कलाओं में उनकी प्रवीणता की भी चर्चा की गई है। उत्खनन से प्राप्त अवशेषों से व्यापार के क्षेत्र में भी सिंधुवासियों द्वारा की गई उन्नति की पुष्टि होती है। प्राप्त सामग्री के आधार पर वहाँ के लोगों के धर्म की विशेषताओं की जानकारी भी प्राप्त होती है। लिखित साहित्य धार्मिक सूचना देने में असमर्थ है। प्राप्त अवशेषों, धातुपत्रों एवं मुहरों पर अंकित विभिन्न चित्रों के गहन अध्ययन से ही तथ्य निकाले गए हैं।

1.3.3. सामाजिक जीवन

1.3.3.1. पारिवारिक जीवन - सिंधु सभ्यता के अंतर्गत समाज की इकाई परिवार ही था। प्रत्येक परिवार में माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री आदि रहते थे। कार्य-विभाजन के आधार पर समाज में अनेक वर्ग थे। उच्च वर्ग में पुजारी, पदाधिकारी, ज्योतिषी, जादूगर, वैद्य आदि आते थे। इनके अतिरिक्त कृषक, व्यवसायी, कुंभकार, बढ़ई, मल्लाह आदि निम्न वर्ग में समझे जाते होंगे। खुदाई में प्राप्त वस्तुओं से उनकी चतुर्दिक संपन्नता का पता चलता है। घरों से बर्तन, मिट्टी एवं धातु के घड़े, कलश, थालियाँ, गिलास, कटोरे, चम्मच आदि प्राप्त हुए हैं। लकड़ी की बनी टोकरियाँ सामान ढोने के लिए प्रयोग में लाई जाती थीं। घरों में कुर्सियाँ, तिपाईयों का प्रयोग भी होता था। पलंग और चारपाइयाँ भी होती थी। चटाइयाँ भी प्रयोग में लाई जाती थीं। घरों को प्रकाशित करने के लिए रात्रि में सिंधुवासी दीपों का प्रयोग भी करते थे।

अनुमान है कि सिंधुवासी दूध से बनी वस्तुएँ, गेहू, जौ, मछली, मांस, कछुए, भेड़ का मांस इत्यादि खाते होंगे। लोग पशुपालन में भी लिप्त थे, जिनमें मुख्य रूप से गाय, भैंस, हाथी, ऊँट, भेड़, बकरी, सुअर और कुत्ता आदि पाले जाते थे। हिरन, काला चूहा, नेवला आदि के अवशेष भी पाए गए हैं। जंगली साँड, खरगोश, बंदर, हिरन, शेर, रीछ और गैंडे की छोटी-छोटी मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं।

सिंधु सभ्यता के लोग सोना, चाँदी, ताँबा, सीसे इत्यादि का प्रयोग करते थे, किंतु लोहे के प्रयोग का पता नहीं चलता है। इनके अतिरिक्त वे हड्डियों, कौड़ियों और हाथी दाँत का प्रयोग भी करते थे।

1.3.3.2. वेशभूषा – सिंधु सभ्यता से प्राप्त बर्तनों पर बनी आकृतियों से पता चलता है कि सूती एवं ऊनी धागों का निर्माण अवश्य हुआ करता था। इस स्थान से प्राप्त मुद्राओं पर अंकित आकृतियों से भी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है। पुरुष प्रायः मूँछे और दाढ़ी रखते थे। वे अपनी कमर के चारों ओर एक पट्टी बाँधा करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वे दाएँ कंधे के नीचे से होकर बाएँ कंधे के ऊपर तक पहुँचने वाले दुपट्टे का प्रयोग भी करते थे। स्त्रियाँ घाघरे का प्रयोग करती थीं। अंगरखे का प्रयोग विशेष रक्षा के लिए होता था।

स्त्री और पुरुष दोनों जेवर पहनते थे। हार, बालों के भूषण, कंगन, अँगूठी का प्रयोग तो दोनों करते थे, किंतु नाक के काँटे, बुंदे और नुपुर का प्रयोग केवल स्त्रियाँ ही करती थीं। अमीर सोने, चाँदी, हाथी-दाँत और कीमती मोतियों के बने भूषण पहनते थे। निर्धन वर्ग सीपियों, हड्डियों, ताँबे और पत्थर के जेवर पहनते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ये बालों को सँवारने के लिए कंघी का प्रयोग करते थे, साथ ही बालों को स्थिर तथा सँवरा हुआ रखने के लिए क्लिपों का प्रयोग भी करते थे। स्त्रियाँ चोटी भी करती थीं, जूड़ा बनाने का प्रचलन भी था। विविध प्रकार के केशविन्यास मूर्तियों में देखने को मिलते हैं। खुदाई में शृंगार प्रसाधन की सामग्रियाँ भी प्राप्त हुई हैं।

1.3.3.3. मनोविनोद के साधन – सिंधु निवासी मनोरंजन के लिए अनेक प्रकार के खेल-कूदों में भाग लेते थे। मछली पकड़ना एवं शिकार करना इनका प्रिय कार्य था। हड़प्पा में प्राप्त एक मुद्रा पर एक व्यक्ति को व्यायाम करते हुए दिखाया गया है। खुदाई में संगमरमर, विविध पत्थर तथा सीप की गोलियाँ भी प्राप्त हुई हैं। संभवतः ये खेलने के काम में आती थी। नाच और गाना भी उन्हें पसंद था। हाथी दाँत, पत्थर और मिट्टी के बने हुए पासे भी प्राप्त हुए हैं। जिससे लगता है कि उन्हें पासा खेलना भी आता था। मोहनजोदड़ो की खुदाई से खिलौने भी प्राप्त हुए हैं, अतः पता चलता है कि यहाँ के बच्चे खिलौने खेलने के शौकीन थे। ये खिलौने मिट्टी के बने होते थे। झुनझुना , सीटी, पक्षी, बैलगाड़ी आदि प्राप्त हुए हैं।

1.3.3.4. औषधियों का प्रयोग – खुदाई में कुछ ऐसे पदार्थों की प्राप्ति हुई है, जो कदाचित् औषधि के रूप में प्रयुक्त होते थे। कुछ ताबीज़ें भी प्राप्त हुई हैं, जिससे पता चलता है कि कदाचित् चिकित्सा में जादू-टोना का भी प्रयोग होता था।

1.3.3.5. कला एवं अन्य – खुदाई में कुछ तख्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं, जिससे पता चलता है कि लिखने का काम तख्तियों पर होता होगा। इस पर लकड़ी की कलमों का प्रयोग किया जाता होगा। माप और तौल की भी निश्चित योजना थी। नगर योजना, सड़कों आदि की योजना देखकर अनुमान लगता है कि उन्हें ज्यामिति का ज्ञान भी हो गया था। सिंधु सभ्यता के लोगों को रोगों और चिकित्साओं का भी ज्ञान था। उनके समाज में संगीत, नृत्य का भी विशेष महत्व था। मूर्तियों, मुद्राओं को देखकर निश्चित हो जाता है कि वे चित्रकला में भी प्रवीण थे।

1.3.3.6. लिपि – दुर्भाग्यवश सिंधु प्रदेश की लिपि अभी तक नहीं पढ़ी जा सकी है। यह लिपि चित्र प्रधान है और इसमें 400 वर्ण हैं। इस लिपि में कहीं पर वर्णों का प्रयोग होता है, कहीं पर संकेतात्मक चित्रों का प्रयोग

होता है। इस लिपि से स्पष्ट होता है कि अर्थबोधक विशेष संकेतों का प्रयोग भारतवर्ष में दीर्घकाल तक होता रहा है। विद्वानों का मत है कि सिंधु लिपि दाहिने से बाएँ हाथ की ओर लिखी जाती थी।

1.3.3.7. मृतक संस्कार– मार्शल महोदय का मत है कि सिंधु वासी शवों का अंतिम संस्कार तीन प्रकार से करते थे–

1) पूर्ण समाधिकरण – इसके अंतर्गत संपूर्ण शव को पृथ्वी के नीचे गाड़ दिया जाता था।

2) आंशिक समाधिकरण – इसमें पहले मृतक के शरीर को खुले स्थान पर छोड़ देते थे और जब पशु-पक्षी उसे खा लेते थे तब अस्थियों को एकत्र कर उन पर समाधि बना दी जाती थी।

3) दाह-संस्कार – इसमें शव को जलाने के बाद बची हुई अस्थियों को एकत्र करके गाड़ दिया जाता था।

हड़प्पा की खुदाई में अनेक समाधियाँ प्राप्त हुई थीं। इनमें शवों के सिर अधिकतर उत्तर दिशा की ओर रखे मिलते हैं। शवों के साथ विविध आभूषण, अस्त्र-शस्त्र, पात्र आदि भी रखे मिलते हैं। ये वस्तुएँ मृतक के उपभोग के लिए रखी जाती होंगी। इतिहासकारों के अनुसार सिंधुवासी भी आगामी जीवन में विश्वास करते थे।

1.3.4. आर्थिक जीवन

1.3.4.1. कृषि एवं पशुपालन– सिंधु सभ्यता के समृद्ध नगरों की सत्ता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इस सभ्यता का आर्थिक जीवन बहुत समृद्ध व उन्नत था। इस सभ्यता के लोगों का आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि था। उत्खनन में गेहूँ, जौ के दाने प्राप्त हुए हैं, पर इस सभ्यता के लोग केवल शाकाहारी नहीं थे। वे माँस, मछली, अंडे आदि का भी भोजन के लिए प्रयोग करते थे। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा के अन्वेषण में खजूर की गुठलियाँ प्राप्त होने से इस बात की पुष्टि होती है कि सिंधुवासी फलों का भी उपयोग करते थे। वे भेड़, बकरी, हाथी, सुअर, कुत्ते भी पालते थे। मोहरों पर अंकित गाय, बैल, भैंस आदि की प्रतिमाएँ इस बात का प्रमाण है कि सिंधु सभ्यता में इन पशुओं का महत्वपूर्ण स्थान था। लोग इनके दूध, घी आदि का उपयोग करते होंगे, ऐसा प्रतीत होता है।

1.3.4.2. वस्त्र उद्योग – मूर्तियों की वेशभूषा से ज्ञात होता है कि उन्हें सूत काटने, कपड़ा बुनने का ज्ञान भी था। सिंधु प्रदेश में वस्त्र-व्यवसाय के समुन्नत होने की संभावना दिखती है। अनुमानत: इस सभ्यता में कपास की खेती का भी महत्व रहा होगा।

1.3.4.3. शिल्पकला – मिट्टी के बरतन बनाने की कला इस युग में बहुत उन्नत थी। खुदाई में अनेक बरतन प्राप्त हुए हैं, जो कुम्हार के चाक पर बनाए गए हैं। उन्हें अनेक प्रकार के चित्रों एवं आकृतियों द्वारा विभूषित किया गया है। चाक से बनी सामग्री के अतिरिक्त बहुत–सी सामग्री हाथ से भी बना ली जाती थी। खुदाई में अनेक भट्ठे भी मिले हैं। इनमें मिट्टी से बनी वस्तुएँ पकाई जाती थीं। कुम्हार की तरह ही तंतुवाय (जुलाहा) का शिल्प भी इस युग में उन्नत दशा में था।

सिंधु सभ्यता के स्त्री-पुरुष आभूषणों के बहुत शौकीन थे। यही कारण है कि इस युग की जो प्रतिमाएँ मिली हैं, उनमें बहुत–से आभूषणों को प्रदर्शित किया गया है। ये आभूषण चाँदी और ताँबे के बरतनों में संभालकर रखे हुए मिले हैं।

1.3.4.4. तकनीक तंत्र व धातु प्रयोग – सिंधु सभ्यता के आर्थिक जीवन में धातुओं द्वारा बरतन और औजार बनाने का शिल्प भी बहुत उन्नत था। इन धातुओं में ताँबे को प्रचुरता के साथ प्रयुक्त किया जाता था, यद्यपि सोना, चाँदी, सीसे का उपयोग भी धातुकार जानते थे। ताँबे का प्रयोग औजारों के लिए विशेष रूप से किया जाता था। मोहनजोदड़ो व हड़प्पा के भग्नावशेषों में ताँबे की कुल्हाड़ी प्राप्त हुई है, जिनमें लकड़ी को फँसाने के लिए छेद भी विद्यमान हैं। ताँबे की बनी एक आरी भी प्राप्त हुई है, जिसका हत्था लकड़ी का था। इस युग में अस्त्र-शस्त्र भी धातु के बनते थे। अवशेषों में तलवार, कटार, धनुष-बाण, बरछी, भाला, छूरी आदि प्राप्त हुए हैं, जो ताँबे या कांस्य के बने हुए हैं। पत्थर काटने की छेनी भी प्राप्त हुई है, जिससे पता चलता है कि पत्थर तराशने का शिल्प भी इस युग में विकसित हो चुका था।

सिंधु सभ्यता के अवशेषों में तोल के बट्टे प्राप्त हुए हैं। धातु की बनी तराजू के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। सोना, चाँदी, पीतल, ताँबा आदि धातुओं के आभूषणों, गुड़ियों, मुद्राओं, खिलौनों और बर्तनों को देखने से प्रकट होता है कि इस काल के स्वर्णकारों ने अपने काम में काफी निपुणता प्राप्त कर ली थीं। वे धातुओं को गलाना जानते थे। मोहनजोदड़ो में ताँबे का गला हुआ एक ढेर मिला है। धातु के गले हुए द्रव को साँचों में भरकर विविध आकार दिए जाते थे। कभी-कभी धातु को पीट कर चादरें भी बनाई जाती थीं और फिर उन्हें काट-काट कर विभिन्न आकृति के पशु-पक्षी इत्यादि बनाए जाते थे। धातुओं के साथ-साथ वे शंख, सीप, घोंघा, हाथी दाँत आदि के काम में भी निपुण थे। हड़प्पा से शंख का बना हुआ एक बैल प्राप्त हुआ है। घोंघे के बने खिलौने, सीप की भी एक गुड़िया प्राप्त हुई है।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में गाड़ी के पहिए और तख्ते भी मिले हैं। इनसे प्रतीत होता है कि सिंधु प्रदेश में बढ़ई का काम भी होता था। खुदाई में सोने की सुईयाँ भी मिली हैं, परंतु व्यवसायियों को देखते हुए प्रतीत होता है कि सिंधु प्रदेश में दर्जी की दुकानें होंगी। मूर्तियों, खिलौनों और मुद्राचित्रों पर अंकित वेशभूषा पर विविध रंगों का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि रंगरेजों का व्यवसाय काफी लोकप्रिय रहा होगा। व्यापार-व्यवसाय में प्रयुक्त होने वाले माप और तौल के मानकीकृत रूप मिलते हैं। सिंधु सभ्यता में जो भी मकान बनाए गए थे और जो भी ईंटें बनाई गई थीं, वे किसी-न-किसी माप के अनुसार ही बनाई गई थीं।

तौल और मापों को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस युग में व्यापार उन्नत दशा में था। सीपी, शंख, कौड़ी आदि का प्रयोग सिंधु सभ्यता में प्रचुरता के साथ होता था। यहाँ व्यापार तभी संभव था, जब व्यापारियों का वर्ग भली–भाँति विकसित हो चुका हो और साथ ही आवागमन के साधन भी अच्छे उन्नत हों।

सिंधु सभ्यता की कला में पत्थर और धातु की बनी हुई मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। धातु की बनी हुई एक नर्तकी की एक मूर्ति इतनी सुंदर है कि वह बिल्कुल सजीव प्रतीत होती है। नर्तकी का शरीर नग्न है, यद्यपि उस पर बहुत से आभूषण बनाए गए हैं। सिर के केशों का प्रसाधन मूर्ति में बहुत–ही सुंदर रूप से प्रदर्शित किया गया है। सिंधु सभ्यता के लोग संगीत और नृत्य के शौकीन थे, यह उन छोटे-छोटे वाद्यों द्वारा भी

प्रकट होती है, जो इस युग के भग्नावशेषों में उपलब्ध हुए हैं। तबले और ढोल के चित्र भी कुछ स्थानों पर उत्कीर्ण मिले हैं।

1.3.4.5. व्यापार एवं बाह्य संपर्क– सिंधु सभ्यता में बहुत से पदार्थ बाहर से मँगाए जाते थे। उनका संबंध विदेशों के साथ भी था। अन्य सभ्यताओं के साथ समानताओं के आधार पर अनुमान किया जाता है कि इसका संपर्क अन्य देशों से भी था। उदाहरण के तौर पर मोहनजोदड़ो की ही भाँति सुमेर की मुद्राओं पर भी स्वस्तिक चिह्न मिलता है। यह चिह्न यूनान में भी मिलता है। सिंधु प्रदेश और मेसोपोटामिया में भी समानताएँ मिलती हैं।

1.3.5. धार्मिक जीवन

सिंधु सभ्यता में धर्म काफी विकसित था। सिंधुवासी बहुदेववादी होते हुए भी एक ईश्वरीय सत्ता से परिचित थे।

1.3.5.1. शिव–परमपुरुष की उपासना – सैंधव सभ्यता के उत्खनन में ऐसी अनेक पुरुषाकृतियाँ मिली हैं, जिन्हें विद्वानों ने आधुनिक शिव पशुपति का पूर्व रूप माना है। पहली मूर्ति एक योगी की है। यह योगी निर्वस्त्र है और योग मुद्रा में आसीन है। इस योगी के तीन मुख हैं, शीश पर त्रिशूल समान कोई वस्तु है। इसके आस-पास गैंडा, भैंसा, हाथी, बाघ तथा हिरन का अंकन है। इस मूर्ति की विशेषताएँ आधुनिक शिव के पशुपति रूप से साम्य रखती हैं।

एक अन्य मुद्रा में योगासीन एक व्यक्ति का चित्र अंकित है। उनके दोनों ओर एक-एक नाग तथा सामने दो नाग बैठे हैं। विद्वानों के अनुसार यह योगी का चित्र भी शिव का ही है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक अन्य मुहर पर पत्तियों का वस्त्र पहने और हाथों में धनुष-बाण लिए एक पुरुष की आखेटक आकृति अंकित है। इसे विद्वानों ने शिव का किरात रूप माना है। हड़प्पा से एक मूर्ति नृत्य मुद्रा में प्राप्त हुई है। इसका बायाँ पैर पृथ्वी पर टिका हुआ है तथा दायाँ ऊपर उठकर मिलता है। इसे विद्वानों ने शिव के तांडव रूप से समीकृत किया है। ये सभी अवशेष इस तथ्य के द्योतक हैं कि सैंधव काल में एक ऐसा पुरुष देवता अवश्य था जो आधुनिक शिव से साम्यता रखता था।

1.3.5.2. परमानारी अथवा मातृदेवी – सिंधु सभ्यता के क्षेत्रों से मिट्टी की बनी हुई बहुसंख्यक नारी की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। ये प्रायः नग्न अथवा अर्द्धनग्न और कुंडल, हार, मेखला आदि आभूषणों से विभूषित हैं। अधिकांश मूर्तियों के सिर पर कुल्हाड़ी के आकार का शिरोभूषण है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि यह नारी मातृदेवी है। सिंधु सभ्यता से मातृदेवी की बहुसंख्यक स्वतंत्र मूर्तियाँ मिली हैं। एक मूर्ति में देवी शिशु को स्तनपान कराती हुई, एक मूर्ति में वृक्ष के नीचे खड़ी हुई तथा एक अन्य मूर्ति में वृक्ष की दो शाखाओं के बीच से निकलती हुई प्रदर्शित है। इनमें से पहली मूर्ति को मातृत्व का और शेष दो मूर्तियों को वनस्पति की देवी का प्रतीक माना गया है। एक मूर्ति में स्त्री के गर्भ से वृक्ष निकलता हुआ दर्शाया गया है, इस मूर्ति को प्रजनन का प्रतीक माना गया है। परम नारी पुरुष के युग्म की उपासना के अतिरिक्त सिंधु वासियों ने लिंग और योनि की प्रतीकात्मक उपासना के द्वारा भी ईश्वर की सृजनात्मक शक्ति की प्रतिष्ठा की। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में

बहुसंख्यक लिंग मिले हैं। ये साधारण पत्थर, लाल पत्थर और नीले सैण्डस्टोन, चीनी मिट्टी अथवा सीप के बने हैं। साथ ही बहुसंख्यक छल्ले भी प्राप्त हुए हैं। अधिकांश विद्वान उन छल्लों को योनियाँ मानते हैं। आज भी भारतवर्ष में लिंग-योनि की सम्मिलित रूप में पूजा होती है। अतः हिंदू धर्म की यह पूजा भी सिंधु सभ्यता की देन है।

1.3.5.3. वृक्ष पूजा – खुदाई में विविध वृक्षों की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें पीपल, नीम, खजूर, शीशम आदि का धार्मिक महत्व था। इनमें सर्वाधिक संख्या पीपल के वृक्षों की है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक मुद्रा पर दो परस्पर जुड़े पशुओं के सिर पर पीपल की नौ पत्तियाँ बनी हैं। एक अन्य मुद्रा पर वृक्ष के मध्य एक मानवमुख बना हुआ है। सामने एक व्यक्ति घुटने टेक कर बैठा है। उसके निकट छह अन्य व्यक्ति हैं तथा पास में एक बकरे की आकृति है। यहाँ वृक्ष के बीच बने मानव मुख को वृक्ष देवता का प्रतीक तथा बकरे को बलि-पशु माना गया है। एक अन्य मुद्रा पर एक नग्न नारी का चित्र है, उसके दोनों ओर एक-एक टहनी बनी है। उसके सम्मुख पत्तियों का मुकुट पहने एक अन्य आकृति अंकित है। विद्वानों का विचार है कि मुद्रा में अंकित टहनियाँ पीपल की हैं। नग्न नारी पीपल वृक्ष की आत्मारूप देवी है। अन्य आकृतियाँ उस देवी के दूत हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सिंधु प्रदेश में पीपल का वृक्ष सबसे अधिक पवित्र समझा जाता था। इस प्रकार भारत वर्ष में वृक्ष-पूजा की एक दीर्घ परंपरा है।

1.3.5.4. पशु पूजा – सिंधु प्रदेश में पशु पूजा भी प्रतिष्ठित थी। बैल शक्ति का प्रतीक माना जाता था। सिंधु प्रदेश में भैंस और भैंसा भी अनेक मुद्राओं पर चित्रित मिलते हैं। कदाचित् यह भी शक्ति का प्रतीक समझा जाता था।

सिंधु सभ्यता के अवशेषों में नाग पूजा से संबंधित साक्ष्य निश्चित रूप से उपलब्ध हैं। एक मुद्रा पर नाग की पूजा करते व्यक्ति का चित्रण है। योगासन शिव के साथ नाग प्रदर्शित हैं। संभव है कि सिंधु प्रदेश के समय में अनेक पशु-पक्षी उस समय के देवी-देवताओं के वाहन हों।

1.3.5.5. अग्नि तथा जल पूजा – सिंधु युग में वृक्षों के समान ही संभवतः अग्नि तथा जल की पूजा का भी प्रचलन था। मोहनजोदड़ो में एक विशाल स्नानकुंड मिला है। कुंड के चारों ओर बरामदे बने हैं और उनके पीछे कमरे। इसके भीतर उतरने के लिए सीढ़ियाँ बनाई गई थी। विद्वानों के अनुमान के अनुसार यह स्नानकुंड धार्मिक स्नानों के काम में आता था। इसके समीप ही एक अन्य भवन है, जिसमें तीन कुएँ मिले हैं। सिंधु सभ्यता में कदाचित् पवित्र स्नान और जल पूजा का विशेष महत्व था। इसी प्रकार कालीबंगा में एक कुएँ के समीप एक पंक्ति में सात आयताकार अग्निकुंड बने मिले हैं। हड़प्पा से मिली एक मुहर पर एक व्यक्ति एक यज्ञवेदी में हवन करता-सा प्रदर्शित किया गया है। इन चित्रणों को विद्वानों ने अग्निपूजा से संबंधित माना है।

1.3.5.6. प्रतीक पूजा – सिंधु प्रदेश की अनेक मुद्राओं पर सींग, स्वस्तिक, चक्र, स्तंभ आदि प्रतीकों का अंकन भी किया गया है। अनेक मुद्राओं, ताबीजों और मूर्तियों में नर-नारियाँ अपने शीश पर सींग धारण किए हुए प्रदर्शित किए गए हैं। इन प्रतीकों का भी संभवतः धार्मिक महत्व था। मुद्राओं पर अंकित कुछ स्तंभों में

दीप, धूप जलते हुए दिखाए गए हैं। कभी-कभी उनके नीचे जलती आग भी दिखाई गई है। कदाचित् यह कोई धार्मिक क्रिया है। हिंदू धर्म में स्वस्तिक चिह्न आज भी पवित्र और शुभ माना जाता है।

1.3.5.7. पूजा विधि – देवी देवता, पशु पक्षियों, स्तंभों, प्रतीक चिह्नों के निर्माण व अंकन से प्रतीत होता है कि सिंधु निवासी साकार उपासना करते थे। उनके समाज में मूर्ति पूजा प्रचलित थी। स्नानकुंड, स्नानागारों, कुँओं के अस्तित्व से ऐसा अनुमान किया जाता है कि पूजा अथवा धार्मिक कर्म के पूर्व शारीरिक शुद्धि आवश्यक समझी जाती थी। पूजा में धूप-दीप आदि का प्रयोग भी आवश्यक होता रहा होगा, क्योंकि अनेक मूर्तियों के ऊर्ध्व भाग पर दीपक बने मिले हैं और उनके किनारे धूम्र के चिह्न भी हैं। हड़प्पा से एक मुद्रा प्राप्त हुई है, जिसमें एक समारोह का दृश्य है। यह संभव है कि संगीत, नृत्य द्वारा ये नर–नारी किसी धार्मिक क्रिया में संलग्न अपने देवी-देवताओं को प्रसन्न कर रहे हों। कहीं–कहीं पशु बलि के भी उदाहरण मिले हैं। सैंधव प्रदेशों से उत्खनन में अनेक तावीज भी मिले हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि इन क्षेत्रों के वासी संभवतः जादू-टोने में भी विश्वास करते थे।

1.3.6. सारांश

इस काल में शहरी सभ्यता का विकास तेजी से हुआ। समाज की इकाई परिवार थी, जिसमें माता-पिता, पुत्र-पुत्री सभी मिलकर रहते थे। उत्खनन में मिट्टी व धातु के बरतन प्राप्त हुए हैं। सिंधु वासी सोना , चाँदी, ताँबा, सीसा आदि के प्रयोग से परिचित थे। बर्तनों पर प्राप्त आकृतियों से वहाँ के निवासियों की वेशभूषा के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। वे आभूषणों के भी शौकीन थे, साथ–ही शृंगार प्रसाधनों का प्रयोग भी करते थे। मनोरंजन के लिए अनेक प्रकार के खेलकूदों में भी भाग लिया करते थे। खुदाई में बच्चों के खिलौने भी प्राप्त हुए हैं। सिंधु वासी चिकित्सा ज्ञान में दक्ष थे। मूर्तिकला, मुद्राकला और चित्रकला में भी प्रवीण थे। सिंधु लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है। इस सभ्यता का आर्थिक जीवन उन्नत था। मुख्य आधार कृषि था, जिसके साथ-साथ वे पशुपालन, वस्त्र उद्योग, तकनीक तंत्र, शिल्पकला में भी प्रवीण हो चुके थे। इस काल में व्यापार के क्षेत्र में उल्लेखनीय विकास हो चुका था, विदेशों के साथ संबंधों की पुष्टि भी हुई है। धर्म के क्षेत्र में यह सभ्यता काफी विकसित हो चुकी थी, जिसका प्रभाव आज भी देखने को मिलता है। उस काल में शुरू हुई पूजा आज के समाज में भी देखने को मिलती है, जैसे– वृक्ष पूजा, जल पूजा, अग्नि पूजा आदि। प्रतीक पूजा जैसे स्वस्तिक, चक्र, स्तंभ आदि प्रतीकों के पूजा का चलन इसी काल में प्रारंभ हुआ। साकार उपासना इस काल में शुरू हो चुकी थी। सिंधुवासी लोकोत्तर जीवन में विश्वा स करते थे।

1.3.7. बोध प्रश्न

1. सिंधु सभ्यता की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालिए।
2. सिंधु सभ्यता के आर्थिक जीवन की विस्तृत चर्चा कीजिए।
3. सिंधु घाटी की सभ्यता के काल में धार्मिक जीवन विकसित था। स्पष्ट कीजिए।
4. सिंधु सभ्यता के सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

1.3.8. संदर्भ व उपयोगी ग्रंथ

1. पाण्डेय, विमल चन्द्र. (2002). *प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास (भाग-1).* इलाहाबाद : सेंट्रल पब्लिशिंग हाउस।
2. विद्यालंकार, सत्यकेतु. (1987). *प्राचीन भारत.* नई दिल्ली : श्री सरस्वती सदन।
3. वर्मा, दीनानाथ. (2002). *प्राचीन भारत.* नई दिल्ली : ज्ञानदा प्रकाशन।
4. झा, द्विजेन्द्र नारायण एवं श्रीमाली (1997). *प्राचीन भारत का इतिहास.* दिल्ली : हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय।
5. शर्मा, एल. पी. (2007), *प्राचीन भारत.* आगरा : लक्ष्मी नारायण अग्रवाल।
6. शर्मा, रामशरण, प्रारंभिक भारत का परिचय, दिल्ली

खंड - 1 : सिंधु घाटी की सभ्यता
इकाई - 4 : पतन व सातत्य

इकाई की रूपरेखा

1.4.1. उद्देश्य
1.4.2. प्रस्तावना
1.4.3. सिंधु सभ्यता का पतन
1.4.4. सिंधु सभ्यता का सातत्य
1.4.5. सारांश
1.4.6. बोध प्रश्न
1.4.7. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1.4.1. उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप समझ सकेंगे –

1. सिंधु सभ्यता के पतन के संभावित कारणों
2. सभ्यता की निरंतरता एवं प्रभाव

1.4.2. प्रस्तावना

सिंधु सभ्यता नगरीय और व्यापार प्रधान थी, जिसके निवासियों ने विभिन्न क्षेत्रों में आश्चर्यजनक उन्नति कर ली थी। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और कला-कौशल आदि सभी क्षेत्रों में सिंधु-वासी प्रगतिशील सभ्यता के परिचायक थे। अभी यह स्थापित करना संभव नहीं हो पाया है कि सभ्यता के विकास का कृषि-आधार क्यों और कैसे हुआ, परंतु अनुसंधानों से इस बात का पर्याप्त प्रमाण मिल गया है कि इस सभ्यता की जड़ें भारतीय भूमि पर गहरी जमी थीं। इसके विकास की अवस्थाओं का पूरा संतोषजनक ढंग से पता नहीं लगाया जा सका है, इसी प्रकार इसके अंत को लेकर भी इतिहासकारों में मतभेद है। विद्वानों ने अनेक मतों का प्रतिपादन किया है और कुल मिलाकर देखा जाए तो सिंधु सभ्यता के पूर्ण वितरण क्षेत्र में इसके पतन के सही-सही कारण अभी तक ज्ञात नहीं हो पाए हैं। यह अवश्य है कि कालांतर में सिंधु सभ्यता के प्रदेशों में आर्य सभ्यता प्रसारित हो गई। इस सभ्यता के लुप्त हो जाने के बाद भी उसका प्रभाव आज भी भारत में विद्यमान है। इनके द्वारा अपनाए गए सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक तौर-तरीके आज तक भारतीयों को प्रभावित किए हुए हैं।

1.4.3. सिंधु सभ्यता का पतन

लगभग 2300 ई.पू. में जन्मी सिंधु घाटी की सभ्यता करीब 1750 ई.पू. तक जीवित रही। ई.पू. अठारहवीं सदी के अंत आते-आते इस प्रदेश के दो प्रमुख नगर हड़प्पा और मोहनजोदड़ो का तो बिल्कुल नाश हो चुका था। इस प्रदेश के अन्य केंद्रों ने भी धीरे-धीरे हमेशा के लिए अपने पूर्व अस्तित्व को खो दिया। इस सभ्यता के अंत होने का कारण निश्चित तौर पर अभी भी ज्ञात नहीं हो पाया है।

अनुमान किया जाता है कि इस सभ्यता को विदेशी लोगों ने आक्रमण करके नष्ट कर दिया। विद्वानों द्वारा ये मत दो बातों के आधार पर दिए गए हैं – पहला यह कि मोहनजोदड़ो के ऊपरी स्तर पर लगभग अड़तालीस नर-कंकाल अन्वेषण में पाए गए हैं, दूसरा यह कि ऋग्वेद में वर्णित वैदिक देवता इंद्र का उल्लेख, जिसने कई दुर्गों को बर्बाद किया। इस प्रदेश में पाए गए कई नर कंकालों के अध्ययन से पता चलता है कि इन पर तलवार जैसी किसी तेज हथियार से आक्रमण किया गया, परंतु इन आक्रमणकारियों के बारे में किसी भी स्रोत से जानकारी प्राप्त नहीं हो पाई है। कई विद्वानों के मतानुसार आक्रमणकारी आर्य थे। इन विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद में वर्णित इंद्र ने ही अनेक दुर्गों को नष्ट किया। ऋग्वेद में हरियुपिया नामक शहर की चर्चा होने के कारण विद्वानों ने इसे हड़प्पा मान लिया है, परंतु सिंधु सभ्यता के पतन के संबंध में उपर्युक्त विवेचना तर्क की कसौटी पर सत्य नहीं उतरती। यह अवश्य लगता है कि हड़प्पा संस्कृति के आखिरी चरण में कुछ नए लोग यहाँ जरूर आए, क्योंकि इस क्षेत्र से नए प्रकार के मिट्टी के बर्तन एवं हथियार मिले हैं, परंतु इस बात की पुष्टि नहीं हो पाई है कि ये लोग आक्रमण करने के उद्देश्य से यहाँ आए थे और उनके आगमन के कारण सभ्यता नष्ट हुई। प्राचीन और मध्यकाल के अन्य शहरों के नष्ट होने की जो भी जानकारी प्राप्त हुई है, वे मुख्यतया प्रशासनिक दृष्टि से मुख्य शहरों के संबंध में हैं। व्यापारिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण शहरों पर सामान्यतया आक्रमण का विशेष असर अधिक दिनों तक नहीं पड़ता। यह आज भी विवाद का विषय बना हुआ है कि सिंधु प्रदेश पर आक्रमण बड़े पैमाने पर हुआ या नहीं। यदि आक्रमण को सत्य भी मान लिया जाए तो आक्रमणकारी कौन थे? इतिहासकारों के एक मत के अनुसार सिंधु प्रदेश पर आक्रमण करने वालों की संख्या बहुत ज्यादा नहीं थी, जिसके अनुसार यह भी निष्कर्ष निकलता है कि बाह्य आक्रमण ही इस सभ्यता के पतन का एकमात्र कारण नहीं था।

इतिहासकारों ने इस सभ्यता के पतन के कारणों पर प्रकाश डालते हुए अन्य मत भी दिए हैं। एक अन्य मत के अनुसार इस सभ्यता का विनाश बड़े पैमाने पर आग लगने के कारण हुआ है। इस विचार के तर्क स्वरूप इस सभ्यता के अधिकांश मकानों में लकड़ी के प्रयोग को दिया गया। किसी कारणवश आग लगने से एक विशाल अग्निकांड के रूप लेने के कारण इस सभ्यता के विनाश की संभावना जताई गई। उपर्युक्त तथ्यों की सार्थकता खुदाई से भी हुई, ईसा पूर्व 1700 ई. में बलूचिस्तान के क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर राख पाई गई है। वैसे सिंधु घाटी में इस तरह का कोई प्रमाण नहीं प्राप्त हुआ।

कुछ विद्वानों के मतानुसार इस सभ्यता का पतन बड़े पैमाने पर महामारी जैसे- प्लेग, मलेरिया आदि फैलने के कारण हुआ होगा। इस महामारी के कारण धीरे-धीरे इसका पतन हो गया होगा, परंतु महामारी वाली बात भी किसी भी तरह प्रमाणित नहीं हो पाती है। सिंधु सभ्यता का सूक्ष्म अध्ययन किया गया। आश्चर्य इस बात पर होता है कि मिस्र में बिना किसी विशेष परिवर्तन के कोई–न–कोई राजा शासन करता रहा। सिंधु प्रदेश के शहरों के विनाश पर प्रकाश डालते हुए एक विचार यह भी आया कि जिन नदियों के किनारे ये नगर बसे हुए थे, उन नदियों ने अपना मार्ग बदल दिया हो, क्योंकि नदियों द्वारा मार्ग बदलने की बात सर्वविदित है।

इसके कारण नदियों के किनारे बसे व्यावसायिक नगर उजड़ गए होंगे। उदाहरण स्वरूप हड़प्पा रावी नदी के तट पर था, परंतु रावी की दिशा बदल जाने से यह उससे दूर हो गया। अतः यहाँ की कृषि और सामुद्रिक व्यापार नष्ट हो गया। अंततः सभी नगरों के साथ ऐसा घटित हुआ होगा।

एक अन्य मत के अनुसार नदियों में बाढ़ को सिंधु सभ्यता के विनाश का कारण माना है। इस सभ्यता के अधिकांश नगर नदियों के किनारे बसे थे। खुदाई ने सिद्ध कर दिया है कि उनमें से कुछ अनेक बार नष्ट हो गए थे और उन पर पुनः नगर बसाए गए। अंततः वे सभी किसी-न-किसी समय बाढ़ में पूर्णतः नष्ट हो गए। एक अन्य मतानुसार जलवायु परिवर्तन के कारण सैंधव नगरों का विनाश हुआ। जनसंख्या वृद्धि भी एक अन्य कारण बताया गया है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर ऐसा लगता है कि सिंधु सभ्यता के पतन के लिए किसी एक कारण को ही जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचने के बाद सिंधु सभ्यता की सृजनात्मक शक्ति समाप्त होने लगी, नगरों का प्रशासन ढीला हो गया। धीरे-धीरे आर्थिक संकट ने इस सभ्यता को नष्ट किया, यह मत सबसे ज्यादा सत्य के करीब लगता है। किसी एक कारण से नहीं, अपितु उपरोक्त सम्मिलित कारणों से सिंधु सभ्यता का पतन हुआ।

1.4.4. सिंधु सभ्यता का सातत्य

सिंधु घाटी की सभ्यता के काल में शहरी सभ्यता की ओर तीव्र गति से विकास हुआ। यह सभ्यता अपनी नगर योजना, नालियों की व्यवस्था, सार्वजनिक भवनों के निर्माण, दुर्गों और मीनारों के निर्माण, नगर प्रशासन और सफाई व्यवस्था के लिए प्रसिद्ध थी। ये सारे गुण भारतीयों ने भिन्न-भिन्न कालों में अपनाए। पत्थर, पक्की ईंटों, स्तंभों, बाँध के उदाहरण सर्वप्रथम सिंधु-सभ्यता में दिखाई देते हैं। कालांतर में भारतीयों ने इनका अधिकाधिक प्रयोग किया।

सिंधु सभ्यता में कार्य विभाजन था, आगे चलकर पुरोहितों, शासकों, व्यापारियों, कुंभकारों, स्वर्णकारों, लौहकारों आदि का विकास हुआ। वैदिक काल के प्रारंभ में इसी प्रकार के अनेक व्यवसाय मूलक वर्ग थे जो आगे चलकर जन्मगत होकर चतुर्वर्ण-व्यवसाय में संगठित हो गए।

उत्खनन में इस सभ्यता के काल के मनोरंजन के साधनों में खिलौनों, शतरंज, पासा, चौपड़, शिकार, पशु-दौड़, मानव-पशु युद्ध आदि के प्रमाण मिलते हैं। इन सभी को परगामी सभ्यता ने ग्रहण कर लिया।

समृद्ध जीवन पद्धति वाली इस सभ्यता की अनेक सामग्रियाँ आगे के जीवन को प्रभावित करने वाली हुई। इस सभ्यता में घरेलू स्नानगृहों और नालियों पर विशेष बल डाला गया था। आगे चलकर इन तत्वों का अन्य संस्कृतियों पर भी प्रभाव पड़ा। विशेष रूप से मोहनजोदड़ो में प्राप्त महास्नानागार, जिसका प्रयोग धार्मिक स्नानों के लिए विशेष रूप से किया जाता था, उत्तर भारतीय संस्कृति में आज भी विशेष धार्मिक पर्वों पर इस प्रकार के स्नानों का महत्व माना जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य उपयोग की वस्तुएँ जैसे पलंग, कुर्सी, मेज, चटाइयाँ, धातु और हाथी दाँत के बर्तन, विविध शृंगार सामग्री आदि जिनके अवशेष प्राप्त हुए हैं, आज भी उपयोग में लाई जाती है।

सैंधव नारियाँ अपने शृंगार में रुचि लेती थीं। उनके केश-विन्यास और प्रसाधन सामग्री-आभूषण, सिंदूर, काजल, शलाकाएँ, दर्पण आगे चलकर भी स्त्रियों द्वारा प्रयोग में लाए गए। चूड़ियों का प्रयोग भी इसी सभ्यता से शुरू हुआ। सोने, चाँदी, हाथी दाँत आदि के आभूषण इस सभ्यता की तरह आज के समाज में भी

प्रचलित है। सबसे ज्यादा आभूषण सिंधुवासी गले में धारण करते थे, जैसे- कंठा, हार, माला आदि। आज भी गले का आभूषण सबसे ज्यादा पाया जाता है। कंठ की रक्षा के लिए कंठा पहने जाते हैं और यह सिंधु सभ्यता की ही देन है।

इस सभ्यता का आर्थिक संगठन प्रेरणादायक सिद्ध हुआ। व्यावसायिक संस्थान, सामूहिक बाजार के प्रबंध, तौल के बॉट, निर्यात के माल पर मुहर लगाने की व्यवस्था आदि का प्रबंधन उस युग में प्रारंभ हो जाना, वास्तव में आश्चर्यजनक है। उनकी ये व्यवस्थाएँ एवं साथ ही मुद्राओं और मुहरों के लेख आगामी युगों में अनुकरणीय साबित हुए।

इस काल का प्रभाव परवर्ती भारतीय कला पर देखने को भी मिलता है। धातु को गलाने, मिलाने, साँचे में ढालने, पीट कर पतली चादर बनाने की कला को आगे चल कर भी अपनाया गया। उनकी वास्तुकला जैसे मोहनजोदड़ो के दुर्ग का स्तंभयुक्त हॉल आगे की वास्तुकला के स्तंभों की कला में भी झलकता है।

धार्मिक क्षेत्र में तो इस सभ्यता का प्रभाव आज भी देखने को मिलता है। उस काल में शुरू हुई शिव पार्वती, चंडी, काली, सरस्वती, लक्ष्मी आदि की पूजा आज के समाज में भी हमें देखने को मिलती है। उनका पशुपति हिंदू धर्म का शिव हो गया। उनकी मातृ देवी ने शाक्त धर्म को जन्म दिया। इस सभ्यता के काल में प्रचलित पवित्र स्नान, जल-पूजा, वृक्ष पूजा भारतीय धर्मों में विशेषतया हिंदू धर्म में प्रभाव डाल गई। वृक्षों की पूजा जैसे- पीपल, तुलसी की पूजा आज के समाज में भी हमें देखने को मिलती है। गीता में भी वृक्षों में पीपल को सर्वोत्तम कहा गया है। इस काल से प्राप्त वृषभ, हाथी, सिंह, अश्व आदि की मूर्तियाँ कालांतर में क्रमशः यम, इंद्र, दुर्गा और बौद्ध की प्रतीक बन गई। इस काल में आरंभ हुई काली, चंडी आदि विविध मातृ-देवियों की चर्चा पुरानी एवं तांत्रिक साहित्यों में मिलती है। इस काल में ताबीज़ पहनने का प्रचलन प्रारंभ हो चुका था, जिसका प्रचलन आज भी देखने को मिलता है। सैंधव नर्तकियों और देवदासियों ने पूर्व-मध्यकालीन मंदिरों में स्थान पाया। जॉन मार्शल के कथनानुसार हिंदू धर्म का कोई ऐसा अंग नहीं है , जो सिंधु काल के धर्म से प्रभावित न हुआ हो। इस प्रकार इस काल का सातत्य बना रहा।

1.4.5. सारांश

ई.पू. अठारहवीं सदी के अंत तक हड़प्पा और मोहनजोदड़ो का नाश हो चुका था, अन्य केंद्र भी धीरे-धीरे अपना अस्तित्व खो दिए। निश्चित रूप से इस सभ्यता के अंत का कारण ज्ञात नहीं हो पाया है। जिन कारणों का अनुमान लगाया गया है, वे हैं— भयंकर बाढ़, जलवायु में असाधारण परिवर्तन या बाह्य आक्रमण। अनेक मतों के बाद यह अनुमान लगाया जाता है कि इस प्राचीनतम सभ्यता की समाप्ति प्रकृति के हाथों ही हुई थी।

सिंधु सभ्यता के लुप्त होने के बाद भी उसका प्रभाव आज भी भारत में विद्यमान है। वर्तमान भवन और नगर निर्माण कला पर भी इस सभ्यता की छाप परिलक्षित होती है। वेशभूषा, शृंगार एवं आभूषण सज्जा पर भी इस सभ्यता की छाप देखने को मिलती है। कृषि, पशुपालन एवं अन्य व्यवसाय भी निरंतर बने हुए प्रतीत होते हैं। मातृ पूजा, शक्ति पूजा, शिवलिंग पूजा, वृक्ष पूजा, तुलसी पूजा, जादू-टोना, मंत्र-तंत्र, योग इत्यादि बातें हिंदू संस्कृति में इस सभ्यता से ही आई, जैसे भारतीय संस्कृति में उस प्राचीन काल से 'आगम'

रूप से आ रही हो। आधुनिक युग के समान ही अपने आर्थिक विकास के लिए इनका संबंध भी देश-विदेश से बना हुआ था।

1.4.6. बोध प्रश्न

1. सिंधु सभ्यता के पतन के संभावित कारणों पर प्रकाश डालिए।
2. सिंधु घाटी की सभ्यता की निरंतरता आज के जीवन में भी बनी हुई है। स्पष्ट कीजिए।
3. सिंधु सभ्यता के पतन के कारणों की चर्चा करते हुए इस सभ्यता के प्रभाव पर प्रकाश डालिए।

1.4.7. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1. पाण्डेय, विमल चन्द्र. (2002). *प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास (भाग-1).* इलाहाबाद : सेंट्रल पब्लिशिंग हाउस।
2. विद्यालंकार, सत्यकेतु. (1987). *प्राचीन भारत.* नई दिल्ली : श्री सरस्वती सदन।
3. वर्मा, दीनानाथ. (2002). *प्राचीन भारत.* नई दिल्ली : ज्ञानदा प्रकाशन।
4. झा. द्विजेन्द्र नारायण. (1997). *प्राचीन भारत का इतिहास.* दिल्ली : हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय।
5. शर्मा, एल. पी. (2007). *प्राचीन भारत.* आगरा : लक्ष्मी नारायण अग्रवाल।
6. ओझा, श्रीकृष्ण. (1987). *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास.* नई दिल्ली : रिसर्च पब्लिकेशन्स।

खंड - 2 : वैदिक काल

इकाई -1 : वैदिक साहित्य (वेद, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद)

इकाई की रूपरेखा

2.1.1. उद्देश्य
2.1.2. प्रस्तावना
2.1.3. वैदिक साहित्य का परिचय
2.1.3.1. वैदिक साहित्य का रचनाकाल
2.1.4. वेद
2.1.5. ब्राह्मण ग्रंथ
2.1.6. आरण्यक
2.1.7. उपनिषद
2.1.8. सारांश
2.1.9. बोध प्रश्न
2.1.10. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

2.1.1. उद्देश्य

भारत के प्राचीन इतिहास के निर्माण में प्राचीन साहित्यों से बहुत मदद मिलती है। प्राचीनतम साहित्य या वैदिक साहित्य, भारत में आर्यों के प्रसार, उनके राजनीतिक और सामाजिक जीवन की जानकारी के प्रमुख स्रोत हैं। इनकी उपादेयता आर्यों के विविध रूपों के इतिहास प्रस्तुत करने में की जाती है। इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य वैदिक साहित्य की शाखाओं की जानकारी देना है।

2.1.2. प्रस्तावना

सिंधु घाटी की सभ्यता के विनाश के लगभग ढाई सौ साल के पश्चात् आर्यों की संस्कृति का उदय हुआ। जहाँ तक 'आर्य' शब्द की उत्पत्ति का प्रश्न है, यह संस्कृत का शब्द है। इसका अर्थ सच्चरित्र, कुलीन या तीन ऊँचे वर्गों का सदस्य होता है। आर्यों की पहचान को लेकर विद्वानों ने अलग-अलग मत प्रस्तुत किए हैं। भारतीय विद्वान बाल गंगाधर तिलक के अनुसार आर्यों का निवासस्थान उत्तरी ध्रुव प्रदेश था, जलवायु परिवर्तन के कारण वे यहाँ आकर बस गए थे। विद्वान मैक्समूलर ने आर्यों का मूल निवास स्थान मध्य एशिया माना है, इसका समर्थन अनेक अन्य विद्वानों ने भी किया है। परंतु कुछ अन्य विद्वानों ने इनका संबंध यूरोप से जोड़ने का प्रयत्न किया है। इस मत का समर्थन करने वाले सबसे प्रमुख सर विलियम जोन्स हैं, लेकिन जोन्स के मत को भी विद्वानों ने काटा है। बहुत से विद्वानों ने जर्मन प्रदेश को आर्यों का मूल निवास माना है।

इन मतों के अतिरिक्त कुछ ऐसे विद्वान हैं, जो भारत-वर्ष को ही आर्यों का मूल निवास स्थान मानते हैं। इनके अनुसार आर्य पश्चिम से भारत में नहीं आए, बल्कि यहाँ से पश्चिम की ओर गए। निष्कर्ष के रूप में यही पता चलता है कि उपर्युक्त विचारों में से न कोई पूर्ण रूप से स्वीकारा जा सकता है और न ही पूर्ण रूप से काटा ही जा सकता है।

आर्यों के प्रारंभिक इतिहास की जानकारी के लिए 'वेद' मुख्य स्रोत हैं। वेद से संबंधित बातों की चर्चा जिन ग्रंथों में की गई, उसे वैदिक साहित्य कहते हैं। इस साहित्य का अर्थ उस साहित्य से है, जिसे वैदिक साहित्य की श्रेणी में रखा जाता है। चारों वेदों की संहिताओं में वर्णित मंत्रों को भी वैदिक साहित्य की श्रेणी में रखा जाता है। इसके अतिरिक्त इन संहिताओं में गद्य एवं दार्शनिक खंड भी हैं। दार्शनिक खंड में ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद आते हैं।

2.1.3. वैदिक साहित्य का परिचय

भारतीय आर्यों के इतिहास के प्राचीनतम युग को वैदिक युग कहते हैं। वैदिक साहित्य का आशय उस विपुल साहित्य से है, जिसके अंतर्गत चारों वेद— ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद की संहिताएँ, गद्य एवं दार्शनिक खंड अर्थात् विभिन्न ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद भी आते हैं। आर्य जाति का सबसे प्राचीन साहित्य वेद है। वेद का अर्थ है ज्ञान। वेद मुख्यतया पद्य में हैं, यद्यपि उनमें गद्य भाग भी विद्यमान हैं। वैदिक पद्य को ऋचा कहते हैं, वैदिक गद्य को यजुश् कहा जाता है और वेदों में जो गीतात्मक (छंद रूप) पद्य हैं, उसे साम कहते हैं। ऋचाओं एवं सामों के एक समूह का नाम सूक्त होता है, जिसका अर्थ है, उत्कृष्ट उक्ति या सुभाषित। वेद में इस प्रकार के हजारों सूक्त विद्यमान हैं। प्राचीन समय में वेदों को 'त्रयी' भी कहते थे। ऋचा, यजुश् और साम— इन तीन प्रकार के पदों में होने के कारण ही वेद को 'त्रयी' संज्ञा भी थी।

वैदिक मंत्रों का संकलन जिस रूप में आजकल उपलब्ध होता है, उसे 'संहिता' कहते हैं। विविध ऋषि वंशों में जो मंत्र श्रुति द्वारा चले आते थे, बाद में उनका संकलन व संग्रह किया गया। पहले वेदमंत्रों को लेखबद्ध करने की परिपाटी शायद नहीं थी। गुरु-शिष्य परंपरा व पिता-पुत्र परंपरा द्वारा ये मंत्र ऋषि-वंशों में स्थिर रहते थे और उन्हें श्रुति (श्रवण) द्वारा शिष्य गुरु से या पुत्र पिता से जानता था। इसी कारण उन्हें श्रुति भी कहा जाता था। विविध ऋषि वंशों में जो विविध सूक्त श्रुति द्वारा चले आते थे, धीरे-धीरे बाद में उनको संकलित किया जाने लगा। इस कार्य का प्रधान श्रेय मुनि वेद-व्यास को है। वे महाभारत युद्ध के समकालीन थे और असाधारण रूप से प्रतिभाशाली विद्वान थे। संकलित वैदिक संहिताएँ ही चार वेद हैं— ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद।

2.1.3.1. वैदिक सहित्य का रचनाकाल

वैदिक साहित्य के संपूर्ण रचनाकाल के संबंध में इतिहासकारों के अनेक मत हैं, परंतु सौभाग्य से एक पहलू पर पर्याप्त सहमति है। रचनाकाल की दृष्टि से इस विपुल साहित्य को दो भागों में बाँटा जा सकता है— पूर्व वैदिक काल एवं उत्तर वैदिक काल।

सामान्यतया ऋक संहिता के रचनाकाल को पूर्व वैदिक काल तथा शेष अन्य संहिताओं एवं ब्राह्मण् आरण्यक, उपनिषदों के रचनाकाल को उत्तर वैदिक काल माना जाता है, किंतु एक ही संहिता अथवा ग्रंथ में स्तरीकरण के स्पष्ट चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण के तौर पर अनेक सूक्त ऐसे प्रतीत होते हैं, जो परवर्ती काल के हैं। अन्य वैदिक ग्रंथों में ऐसे उदाहरण देखने को मिलते हैं, जिसमें रचनाकाल के अन्य कालक्रम को भी देखा जा सकता है, जैसे कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण, ऐतरेय के मूल खंड। इसी प्रकार उपनिषदों को भी एक निश्चित काल में बांधना संभव नहीं है। यदि कुछ उपनिषद् ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रंथों के समकालीन हैं तो कुछ बुद्ध के काल से बहुत पूर्व के नहीं हैं और कुछ तो उसके बाद के हैं। इसी प्रकार यद्यपि भाषाविज्ञान की

दृष्टि से अथर्ववेद को अत्यंत परवर्ती काल का माना जाता है, किंतु उसकी विषय सामग्री ऋग्वेदकालीन जनजीवन से बहुत अलग नहीं लगती है। वैदिक साहित्य के रचनाकाल की समस्या के इन सभी पहलुओं को ध्यान में रखते हुए ऋग्वेद का रचनाकाल ईसा पूर्व लगभग 1500 से 1000 तक तथा उत्तर वैदिक काल ईसा पूर्व लगभग 1000 से 600 तक रहा होगा।

2.1.4. वेद

वेदों में ऋग्वेद सबसे अधिक प्राचीन है। ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना और उनके संकलन के बीच काफी लंबा अंतराल पड़ गया होगा। अपनी धार्मिक एवं सांस्कृतिक परंपराओं को सुव्यवस्थित, संरक्षित और विशुद्ध रखने के लिए ही आर्यों ने ऋचाओं का संकलन किया। वेद के संहिता नाम से भी यही प्रकट होता है। इस प्रकार ऋग्वेद सर्वप्रथम संकलन है। इसमें कुल मिलाकर 1017 सूक्त हैं। 'सूक्त' का अर्थ होता है 'अच्छी उक्ति'। ऋग्वेद के समस्त सूक्त 10 मंडलों में विभक्त हैं। वेद के प्रत्येक सूक्त व ऋचा (मंत्र) के साथ उसके 'ऋषि' और 'देवता' का नाम दिया गया है। ऋषि का अर्थ है— मंत्रद्रष्टा या मंत्र का दर्शन करने वाला। जो लोग वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं, उनके अनुसार वेदों का निर्माण तो ईश्वर द्वारा हुआ था, पर इस वैदिक ज्ञान को अभिव्यक्त करने वाले ये ऋषि ही थे, पर आधुनिक विद्वान इन वैदिक ऋषियों को मंत्रों के निर्माता समझते हैं। वैदिक देवता का अभिप्राय उस देवता से है, जिसकी उस मंत्र में स्तुति की गई है, अथवा जिसके संबंध में मंत्र में प्रतिपादन किया गया है।

ऋग्वेद के ऋषियों में सर्वप्रथम गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वशिष्ठ हैं। इन छह ऋषियों और इनके वंशजों ने ऋग्वेद के दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवे, छठे और सातवें मंडलों का दर्शन या निर्माण किया था। आठवें मंडल के ऋषि कण्व और आंगिरस वंश के हैं। प्रथम मंडल के पचास सूक्त भी कण्व वंश के ऋषियों द्वारा निर्मित हुए। अन्य मंडलों और प्रथम मंडल के अन्य सूक्तों का निर्माण अन्य विविध ऋषियों द्वारा हुआ, जिन सबके नाम इन सूक्तों के साथ मिलते हैं। इन ऋषियों में वैवस्वत, मनु, शिबि और औशीनर, प्रतर्दन, मधुछंदा और देवापि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऋग्वेद के मंत्र रचयिता ऋषियों में कुछ स्त्रियों के नाम भी हैं। इन स्त्रियों में लोपामुद्रा, घोषा, शाची, पौलोमी और काक्षावृती आदि प्रमुख हैं।

सामवेद में कुल 1810 मंत्र हैं। इसके दो भाग हैं पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। इसमें 75 मंत्रों को छोड़कर शेष सामग्री ऋग्वेद संहिता से ली गई है। सोमयज्ञ के समय उद्गाता ब्राह्मण इन मंत्रों को गाते थे। यदि देखा जाए तो ये 75 मंत्र भी अन्य वैदिक साहित्य में पाए जाते हैं। इन मंत्रों को गाने योग्य बना कर ऋषि गाते थे। इनके अध्ययन से पता चलता है कि आर्य संगीत प्रिय थे।

यजुर्वेद के दो प्रधान रूप इस समय मिलते हैं, शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद को वाजसनेयी संहिता भी कहते हैं। जिसकी दो शाखाएँ उपलब्ध हैं— काण्व और माध्यन्दिन। कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाएँ प्राप्त होती हैं, काठक संहिता, कपिन्थल संहिता, मैत्रायणी संहिता और तैत्तिरीय संहिता। विविध ऋषिवंशों व संप्रदायों में श्रुति द्वारा चले आने के कारण वेद मंत्रों के मूल पाठ में भेद का हो जाना असंभव नहीं था। संभवतः यजुर्वेद की विविध शाखाएँ इसी कारण बनीं। इनमें यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता सबसे महत्वपूर्ण है, बहुत से विद्वान उसे ही असली यजुर्वेद मानते हैं। यह चालीस अध्यायों में विभक्त है। इसमें उन मंत्रों का अलग-अलग संग्रह किया गया है, जो विविध याज्ञिक अनुष्ठानों में प्रयुक्त किए जाते थे। यजुर्वेद का अंतिम अध्याय ईशोपनिषद है, जिसका संबंध आध्यात्मिक चिंतन से है।

अथर्ववेद में कुल मिलाकर 20 काण्ड और 732 सूक्त हैं। सूक्तों के अंतर्गत मंत्रों की संख्या 6000 के लगभग है। बहुत दिनों तक अथर्ववेद को वेद माना ही नहीं गया, लेकिन अब ऐसा नहीं है। यद्यपि ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दृष्टि से यह ऋग्वेद से मिलता जुलता है, फिर भी इसका अपना मूल्य अवश्य है। इसमें भूत-प्रेत आदि को वश में करने के अनेक मंत्र दिए गए है। अथर्ववेद की दो शाखाएँ इस समय मिलती हैं, शौनक और पिप्पलाद। इसमें शौनक शाखा अधिक प्रसिद्ध है, उसे ही प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया गया है।

2.1.5. ब्राह्मण ग्रंथ

वैदिक साहित्य में चार वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रंथों को भी सम्मिलित किया जाता है। ये संसार में स्तुति के प्रथम उदाहरण हैं। इन ग्रंथों में उन अनुष्ठानों का विषद रूप से वर्णन है, जिनमें वैदिक मंत्रों को प्रयुक्त किया जाता है। ये यज्ञों का अर्थ बताते हुए उनके अनुष्ठान की रीति भी बताते हैं। प्रत्येक ब्राह्मण ग्रंथ का किसी वेद के साथ संबंध है और उसे उसी वेद का ब्राह्मण माना जाता है।

ऋग्वेद का प्रधान ब्राह्मण ग्रंथ ऐतरेय है एवं दूसरा ब्राह्मण ग्रंथ कौषीतकि या सांख्यायन ब्राह्मण है। कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण तैत्तिरीय है। शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद में मुख्य भेद यह है कि जहाँ शुक्ल यजुर्वेद में केवल मंत्र भाग हैं, वहाँ कृष्ण यजुर्वेद में ब्राह्मण भाग भी आता है। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ है, जो एक विशाल ग्रंथ है। इसके रचयिता याज्ञवल्क्य ऋषि माने जाते हैं। इनमें अनुष्ठानों के प्रयोजन का वर्णन भी किया गया है। सामवेद के तीन ब्राह्मण हैं, ताण्ड्य (Tandya) महाब्राह्मण, "षडविंश (Sadvimsha) ब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण। अथर्ववेद का ब्राह्मण गोपथ है।

2.1.6. आरण्यक

प्राचीन भारत में यज्ञों की प्रधानता के कारण याज्ञिक अनुष्ठानों के प्रतिपादन के लिए ब्राह्मण ग्रंथों की रचना की गई थी। इसके साथ ही, ऋषि मुनि आध्यात्मिक, दार्शनिक व पारलौकिक विषयों का भी चिंतन किया करते थे। आत्मा क्या है, सृष्टि की उत्पत्ति, सृष्टि के तत्व व कर्ता, उसके स्वरूप आदि पर विचार भी किया जाता था। इन गूढ़ विषयों का चिंतन करने के लिए ऋषि मुनि प्रायः जंगलों या अरण्यों में निवास करते थे। वहीं जिस साहित्य की रचना हुई, उसे आरण्यक कहते हैं। आम तौर पर ये 'वन पुस्तक' कहे जाते हैं। ये मुख्यतः दर्शन और रहस्यवाद से संबंधित हैं। ये ब्राह्मण ग्रंथों के दार्शनिक भाग हैं।

2.1.7. उपनिषद

ब्राह्मण ग्रंथों के भाग को ही उपनिषद कहते हैं। बाह्य जगत के कोलाहल से दूर बहुत से आचार्य एकांत में जंगल जाकर चिंतन करने लगे। सृष्टि के क्रियाकल्पों पर वे चिंतन करनेलगे। विचार के उपरांत वे जिन निष्कर्षों पर पहुँचते थे, उन्हें अपने शिष्यों को निकट बैठाकर सुनाते थे। इस तरह तैयार हुई रचना को उपनिषद कहा जाता है। उपनिषद का शाब्दिक अर्थ है 'निकट बैठना'। अतः इसके वास्तविक अर्थ हैं कि जिज्ञासु शिष्य अपने गुरु के पास बैठता है और विचार-विनिमय करता है। मुख्य रूप से ब्रह्म और जीव के संबंध पर विचार किया जाता था। यह ज्ञान केवल सुयोग्य पात्रों को ही दिया जाता था। 800 ई. पू. से 500 ई. पू. के मध्य विभिन्न ऋषियों ने 108 उपनिषद लिखे थे। उपनिषदों में अनेक विद्वानों के मत हैं, जो दर्शन के जानकार थे। ब्रह्म तथा आत्मा इन उपनिषदों के मूल तत्व हैं। उपनिषदों में पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्वीकार

किया गया है। ऐतरेय उपनिषद ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण का एक भाग है। ऋग्वेद के दूसरे ब्राह्मण ग्रंथ कौषीतकि ब्राह्मण के अंत में भी आरण्यक भाग है, जिसे कोषीतक आरण्यक या कौषीतकि उपनिषद कहते हैं। यजुर्वेद का अंतिम अध्याय ईशोपनिषद के रूप में है। शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण-ग्रंथ शतपथ ब्राह्मण का अंतिम भाग भी आरण्यक रूप से है, जिसे बृहदारण्यकोपनिषद् कहते हैं। कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण ग्रंथों के अंतर्गत कठ उपनिषद, श्वेताष्वतरोपनिषद, तैत्तिरीय उपनिषद और मैत्रायणीय (Maitraiyaniya) उपनिषद हैं। सामवेद के ब्राह्मण ग्रंथों के साथ संबंध रखने वाली उपनिषदें केन (Kena) और छांदोग्य (Chandogya) हैं। अथर्ववेद के साथ मुण्डक उपनिषद और माण्डूक्य उपनिषद का संबंध है।

उपनिषदों में कोई एक ही दार्शनिक धारा नहीं है। ब्रह्म तथा आत्मा की दो कल्पनाओं का उपनिषदों में समावेश किया गया है। इनमें कुछ ज्ञानपूर्ण कथाओं एवं वार्तालापों का संकलन भी है। एक स्थान पर ईश्वर की एकता के सिद्धांत की पुष्टि की गई है। आत्म मनन और आत्म चिंतन से आत्मज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, इस पर प्रकाश डाला गया है। उपनिषदों में आत्मा के अस्तित्व के अतिरिक्त कर्म एवं फल पर भी प्रकाश डाला गया है। इस ग्रंथ के अनुसार अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा होता है। इसके अनुसार मृत्यु के पश्चात् आत्मा उसके शरीर को छोड़कर किसी और के शरीर में प्रवेश कर जाती है। उपनिषद ग्रंथ में बार-बार मरने और जन्म के बंधन से मुक्ति पाने के सिद्धांतों को भी बताया गया है। मोक्ष मिलने का अर्थ है— ईश्वर में लीन हो जाना एवं पुनर्जन्म से छुटकारा पाना। इसकी चर्चा आरण्यक में भी मिलती है।

2.1.8. सारांश

आर्यों के प्रारंभिक इतिहास के मुख्य स्रोत 'वेद' हैं। वेद से संबंधित बातों की चर्चा जिन ग्रंथों में की गई है, उसे वैदिक साहित्य कहते हैं। वेदों की संहिताओं के अतिरिक्त इनमें गद्य एवं दार्शनिक खंड भी हैं। दार्शनिक खंड में विभिन्न— ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद आते हैं। चारों वेद— ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के साथ ही उसके ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक एवं उपनिषद वर्गीकृत हैं। ऋग्वेद को आर्यों का प्राचीनतम धार्मिक ग्रंथ माना जाता है। इसमें देवताओं के गुणगान के साथ ही तत्कालीन समाज का वर्णन मिलता है। सामवेद के श्लोकों को विशेष अवसर पर ब्राह्मण गाते थे। यजुर्वेद में यज्ञ से संबंधित नियमों की विस्तृत व्याख्या की गई है। अथर्ववेद में भूत-प्रेत को वश में करने के मंत्र मिलते हैं। वेद मंत्रों की उत्पत्ति, विकास तथा व्यवहार आदि के संबंध में की गई टीकाओं को ब्राह्मण ग्रंथ कहते हैं। आरण्यक का अध्ययन मन एवं मस्तिष्क को एकाग्रचित्त होकर करना पड़ता था। एकांत वन में अध्ययन के कारण इसे आरण्यक कहा गया। ब्राह्मण ग्रंथों के भाग को ही उपनिषद कहते हैं। आर्यों की सामाजिक, धार्मिक स्थितियों की जानकारी के लिए इनका बहुत महत्व है।

2.1.9. बोध प्रश्न

1. वैदिक साहित्य का परिचय दीजिए।
2. वैदिक साहित्य की विभिन्न शाखाओं के विषय और स्वरूप का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कीजिए।
3. उपनिषद और उनके विचारों की व्याख्या कीजिए।

2.1.10. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1. ओझा, श्रीकृष्ण. (1987). *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास.* जयपुर : रिसर्च पब्लिकेशन्स
2. वर्मा, दीनानाथ. (2002). *प्राचीन भारत.* नई दिल्ली : ज्ञानदा प्रकाशन।
3. विद्यालंकार, सत्यकेतु. (1987). *प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन.* मसूरी : श्री सरस्वती सदन।
4. पाण्डेय, विमल चन्द्र. (20002). *प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास (भाग-1).* इलाहाबाद : सेंट्रल पब्लिशिंग हाउस।
5. त्रिपाठी, रमा शंकर, प्राचीन भारत
6. शर्मा, रामशरण, प्रारंभिक भारत का परिचय

खंड - 2 : वैदिक काल

इकाई - 2 : ऋग्वैदिक काल (1500BC-1000BC) राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन

इकाई की रूपरेखा

2.2.1. उद्देश्य
2.2.2. प्रस्तावना
2.2.3. राजनीतिक जीवन
2.2.3.1. राजकीय पदाधिकारी
2.2.3.2. सभाएँ– सभा और समिति
2.2.4. सामाजिक जीवन
2.2.5. आर्थिक जीवन
2.2.6. धार्मिक जीवन
2.2.6.1. पूजा विधि
2.2.7. सारांश
2.2.8. बोध प्रश्न
2.2.9. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

2.2.1. उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य वैदिक काल के प्रथम भाग ऋग्वैदिक काल के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन के सभी पहलुओं से परिचित कराना है।

2.2.2. प्रस्तावना

सिंधु घाटी की सभ्यता के बाद आर्यों का अर्थात् वैदिक सभ्यता का भारत भूमि पर उदय हुआ। वैदिक युग लगभग 1000 वर्ष लंबा रहा, अतः वैदिक सभ्यता में क्रमशः विकास और परिवर्तन होते रहे। यही कारण है कि आर्य सभ्यता के प्रारंभिक युग अर्थात् ऋग्वैदिक युग और उत्तरवर्ती युग अर्थात् उत्तरवैदिक काल के जीवन के विभिन्न पक्षों में पर्याप्त अंतर दृष्टिगोचर होता है इसलिए वैदिक काल को दो भागों में बाँट कर उनका अध्ययन किया जाता है— ऋग्वैदिक काल एवं उत्तरवैदिक काल। ऋग्वेद विश्व की सबसे प्राचीनतम पुस्तक है। आर्यों के आचार-विचार, रहन-सहन, धर्म-कर्म को भली-भाँति समझने के लिए वेदों का अध्ययन व ज्ञान नितांत आवश्यक है।

ऋग्वेद के आर्य विस्तृत भू-प्रदेश में बसे हुए थे। उस समय की भौगोलिक सीमाएँ ऋग्वेद में प्राप्त कुछ नामों से जानी जाती हैं। पश्चिमी सीमा में जैसे— कुभा (काबुल), क्रमु (कुर्रभ), गोमती (गोमाल), सुवास्तु (स्वात्) आदि नदियों से पता चलता है कि उस समय का अफगानिस्तान भी भारतवर्ष का अंग था। उसके बाद पंजाब की पाँच नदियों का उल्लेख है— सिंधु (सिंध), वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चेनाब), परूष्णी (रावी) और विपासा (व्यास)। इनके साथ शुतुद्रि(सतलज), सरस्वती, यमुना और गंगा का भी संकेत है।

ऋग्वैदिक काल

2.2.3. राजनीतिक जीवन

आर्यों के अधिकार में बहुत बड़ा क्षेत्र था। ऋग्वेद से उस काल की राजनीतिक अवस्था का चित्रण किया जाता है। सबसे छोटी इकाई के रूप में 'गृह', 'कुल' या 'परिवार' आता था, उसके बाद 'ग्राम' या गाँव, 'विश्' या कबीला, 'जन' या लोग। ग्राम का प्रमुख 'ग्रामणी' होता था। 'जन' का नेता राजा होता था। ऋग्वेद में 'राजन' शब्द का प्रयोग कई बार किया गया है। राजा संभवत: पहले निर्वाचित होता था, परंतु बाद में वंशानुगत होने लगा था। राजा की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र उत्तराधिकारी होता था। राजा आक्रमण के समय और रक्षा के समय प्रजा का नेतृत्व करता था। ऋग्वेद में राजा को 'जनस्य गोपा' (प्रजा का रक्षक) और 'पुरामभेत्रा' (नगरों पर विजय पाने वाला) कहा गया है। राजा का जनता में सम्मानित स्थान था। 'विश्वस्य भुवनस्य राजा' अथवा 'सम्राट' का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है। राजपद गौरवशाली समझा जाता था। राजा प्रजा से स्वामिनिष्ठा और आज्ञाकारिता की आशा करता था।

इस समय छोटे और बड़े अनेक राज्य थे, परंतु प्रतीत होता है कि छोटे राज्यों का बड़े राज्यों में विलय होना प्रारंभ हो गया था। देवताओं को भेंट की गई आहुति या प्रसाद को ऋग्वेद में 'बलि' कहा गया है। प्रजा स्वयं राजा को उसका अंश स्वेच्छा से दे देती थी।

राजा न्यायाधीश के रूप में भी काम करता था। जनता की सर्वोच्च कार्यकारिणी शक्ति होने के कारण वह 'दंड' या 'राजदंड' प्रयोग करता था। वह स्वयं दंडमुक्त था। राजा की सेवा में बहुसंख्यक अधिकारी और सेवक रहते थे।

2.2.3.1. राजकीय पदाधिकारी

राजकीय कार्यों में राजा की सहायता करने के लिए अनेक पदाधिकारी थे। धार्मिक संस्कारों तथा अनुष्ठानों के लिए पुरोहितों को नियुक्त करता था। ऋग्वैदिक पुरोहित से ही कालांतर में राजमंत्री के पद का विकास हुआ। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर पुरोहित अपने राजा को राजकीय विषयों पर परामर्श देता हुआ वर्णित है। राजकीय एवं सामूहिक कल्याण के लिए पुरोहित यज्ञ कराता था। राजनैतिक मामलों में भी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता था। रणभूमि में भी वह राजा के साथ जाता था और उसकी सुरक्षा व विजय के लिए तत्पर रहता था। इस प्रकार ऋग्वैदिक पुजारी का पद अत्यधिक महत्वपूर्ण था। वह पुरोहित के साथ-साथ राजमंत्री, पथ प्रदर्शक, दार्शनिक और योद्धा भी था।

अन्य महत्वपूर्ण पद 'सेनापति' का होता था। इसका कार्य 'सैनिक' का होता था, राज्य की सुरक्षा की जिम्मेदारी इसके ऊपर रहती थी। राज्य के युद्ध के समय वह स्वयं युद्धभूमि में जाकर सेना का उत्साह बढ़ाता था। सेनापति और पुरोहित के साथ ग्रामणी, सूत, रथकार और कर्मार की चर्चा भी ऋग्वेद में की गई है। राज्याभिषेक के अवसर पर ये सभी उपस्थित रहते थे। इन्हें 'रत्निन' कहा गया है। ग्रामणी गाँव का मुखिया रहता था। ये गाँव में शांति और सुव्यवस्था रखता था। अभिषेक के पूर्व राजा 'रत्निन' की पूजा करता था। यह लोकमत के सम्मान का ज्वलंत उदाहरण है। इन सभी के अतिरिक्त पुरूप, दुर्गपति, स्पश और दूत का वर्णन भी मिलता है। इन सभी की नियुक्ति राजा के द्वारा होती थी।

2.2.3.2. सभाएँ— सभा और समिति

ऋग्वेद में कई स्थानों पर 'सभा' और 'समिति' का उल्लेख मिलता है। इनके वास्तविक अर्थ को लेकर इतिहासकारों में मतभेद है। 'सभा' का उल्लेख तो मिलता है, पर इसकी रचना और कर्तव्यों के संबंध में स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती है। सभा संबंधी जो भी चर्चाएँ मिलती हैं, उनसे इसका ग्राम संस्था होना सिद्ध होता है। इसे सम्मेलन के पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त किया गया है। कदाचित् विचार विमर्श के अतिरिक्त सभा ग्राम निवासियों के मनोरंजन का भी केंद्र होती थी। सामाजिक और सार्वजनिक सभाओं के सम्मेलन कक्ष के लिए भी 'सभा' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'सभा के प्रसिद्ध व्यक्ति' को सभासद कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक 'सभा' सामंतों या बड़े बूढ़ों की सभा थी।

ऋग्वेद में कई जगह 'समिति' का भी उल्लेख किया गया है, लेकिन स्पष्ट चित्रण नहीं मिलता। कुछ विद्वानों के अनुसार 'समिति' संस्था थी और 'सभा' उसका अधिवेशन स्थान। ऐसा उल्लेख मिलता है कि राजा 'समिति' से घनिष्ठ रूप से संबंधित था और उसमें उपस्थित होना उसका कर्तव्य था। एक अन्य स्थान पर ऐसा वर्णन है कि राजा 'समिति' से भेंट कर उसके सदस्यों का मन जीत लेता है। ऐसा वर्णन भी है कि राज्य की समृद्धि के लिए राजा और 'समिति' का एकमत होना आवश्यक है। कदाचित् 'सभा' ग्राम संस्था थी और 'समिति' केंद्रीय संस्था। ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यों की स्थापना के बाद राज्य के अंतर्गत अनेक ग्राम आ गए तो सार्वजनिक विषयों की देखभाल करने के लिए 'समिति' नामक केंद्रीय प्रशासकीय संस्था की स्थापना की गई। ऋग्वेद में वर्णन मिलता है कि सारी प्रजा या उसकी उपस्थिति में 'समिति' 'राजन' या राजा का निर्वाचन या पुनर्निर्वाचन करती थी। समिति एक केंद्रीय राजनीतिक संस्था थी। ऋग्वेद में हमें समिति के अंतर्गत राजनीतिक कार्यों के अतिरिक्त सामाजिक कार्यों के संपादित होने का भी आभास मिलता है।

2.2.4. सामाजिक जीवन

ऋग्वैदिक समाज एक उच्च स्तर का सुव्यस्थित समाज था। समाज की सबसे छोटी इकाई 'परिवार' थी। आर्य परिवार में माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री आदि सभी सम्मिलित रूप से रहते थे। परिवार का स्वामी बहुधा पिता ही होता था।

इस काल में विवाह एक उच्च एवं पवित्र संस्कार समझा जाता था। साधारण जनता में एक से अधिक विवाह करने की प्रथा नहीं थी, परंतु राजवंशों में बहु-विवाह प्रचलित थे। याज्ञिक कार्यों में पति और पत्नी दोनों की उपस्थिति वांछनीय समझी जाती थी। लौकिक एवं पारलौकिक शांति के लिए पुत्रों की आवश्यकता समझी जाती थी, जिनके लिए विवाह आवश्यक था। पुत्र-प्राप्ति के लिए कुछ परिस्थितियों में सधवा स्त्रियों को पति के जीवन काल में ही अन्य पुरुष के साथ संबंध स्थापित करने की अनुमति भी दी जाती थी। पुत्र गोद लेने का अधिकार भी मान्य था। यदि किसी का पुत्र न हो तो उसकी संपत्ति का उत्तराधिकार उसकी पुत्री को न मिलकर पुत्री के पुत्र को मिलता था।

प्रायः विवाह वयस्क होने पर ही होते थे। बाल-विवाह की प्रथा का प्रचलन नहीं था। ऋग्वेद के संदर्भों में स्वयंवर की प्रणाली का भी वर्णन मिलता है जिससे सिद्ध होता है कि उस समय कन्याओं का विवाह युवावस्था में ही होता था। दहेज की प्रथा का स्पष्ट उदाहरण नहीं मिलता, परंतु विवाह के समय कन्या को उपहार (वस्तु) दिए जाने की चर्चा अवश्य मिलती है।

तत्कालीन समाज में पुत्री का जन्म इतना चिंताजनक नहीं था, जितना कालांतर में हो गया। इस काल में पुत्र और पुत्री के सामाजिक एवं धार्मिक अधिकारों में बहुत अंतर नहीं था। ऋग्वेद में पुत्र -पुत्रियों की दीर्घायु की प्रार्थना का वर्णन मिलता है। कन्याएँ भी माता-पिता को प्रिय होती थी। कन्याओं को शिक्षा-दीक्षा का भी पर्याप्त अवसर मिलता था। कन्याएँ गृह-कार्यों में भी दक्ष होती थीं, जिनकी उन्हें गृहस्थ-जीवन में आवश्यकता होती थी। कदाचित् कन्याएँ पिता को कृषि-कार्य में भी सहयोग देती थीं। कन्याओं को वैदिक शिक्षा भी दी जाती थी। वह भी अपने भाईयों की भाँति ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई अध्ययन करती थी। ऋग्वेद में लोपामुद्रा, घोषा, विश्ववारा आदि विदुषी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। इन्होंने भी ऋचाओं की रचना की। स्त्रियों को यज्ञ करने का भी अधिकार प्राप्त था। संभवतः इन्हें सभा में भाग लेकर राजनीतिक कार्यों में सहयोग करने का अधिकार था।

आर्यों का खान-पान सरल था। उनके भोजन में घी, दूध, दही, फल, सब्जियों का प्रधान रूप से समावेश था। अन्नों में जौ, धान्य तथा उड़द, मूँग एवं अन्य दालों का विशेष उपयोग होता था। भोजन में घृत, मधु, सत्तू का भी उल्लेख मिलता है। कुछ ऋग्वैदिक आर्य मांसाहारी भी थे। गाय को पवित्र माना जाता था और उसे अघ्न्या अर्थात् हिंसा के अयोग्य माना जाता था। समाज में सुरा-पान का प्रचलन था, साथ ही एक अन्य प्रकार का पेय 'सोमरस' भी प्रचलित था। सुरापान को अहितकर समझकर उसकी निंदा की गई है, परंतु सोमरस का बड़ा महत्व था।

आर्यों की वेष-भूषा साधारण थी। वे प्रायः तीन वस्त्र धारण करते थे— नीवी— जो नीचे पहना जाता था, वास-शरीर पर धारण किया जाने वाला प्रमुख वस्त्र था एवं अधिवास— इसे ऊपर से धारण किया जाता था। आर्य आभूषण प्रेमी होते थे। गले के हार, कंगन, पायल, भुजबंद, नुपुर, मुद्रिका आदि धारण करते थे। बालों के लिए तेल, कंघी के प्रयोग का भी प्रचलन था। पुरुष प्रायः दाढ़ी रखते थे, लेकिन दाढ़ी बनाने का भी रिवाज था।

आर्यों के आमोद-प्रमोद के साधन रथों, घोड़े की दौड़े, नाच-गाना तथा चौपड़ खेलना था। वाद्य संगीत में वीणा, मृदंग, शंख आदि का प्रचलन था। ऋग्वेद में जुआ का भी वर्णन मिलता है। इन सबके अलावा मनोरंजन के लिए आखेट का भी महत्व था।

ऋग्वेद के समय में आर्य स्पष्ट रूप से चार वर्णों में विभक्त नहीं हुए थे। यही कारण है कि पुरुष सूक्त के अतिरिक्त ऋग्वेद में अन्यत्र कहीं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों का उल्लेख नहीं मिलता। पुरुष सूक्त को प्रायः सभी आधुनिक विद्वान बाद के समय का मानते हैं। ऋग्वेद में अन्यत्र ब्राह्मणों, क्षत्रियों का उल्लेख अवश्य हुआ है, पर वैश्य और शूद्र शब्द केवल पुरुष सूक्त में ही आए हैं। इससे यह परिणाम निकाला जाता है कि इस काल में ब्राह्मण और क्षत्रिय सर्वसाधारण जनता या विश: (ऋग्वेद में विश: शब्द अनेक स्थलों पर आया है) से पृथक होने लग गए थे, यद्यपि अभी चातुर्वण्य का पूर्णतया विकास नहीं हुआ था।

2.2.5. आर्थिक जीवन

ऋग्वेद द्वारा प्राचीन भारतीय आर्यों के आर्थिक जीवन की जानकारी भी मिलती है। ऋग्वैदिक सभ्यता ग्राम प्रधान थी। इनके आर्थिक जीवन के मुख्य आधार कृषि और पशुपालन थे। पशुओं में गाय, बैल, घोड़ा, बकरी, कुत्ते और गधे विशेष रूप से पाले जाते थे। आर्य लोग पशुओं को बड़ी संख्या में पालते थे और

इनसे उनकी आर्थिक समृद्धि में बहुत सहायता मिलती थी। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर पशु-धन की वृद्धि के लिए देवताओं से प्रार्थनाएँ की गई हैं।

ऋग्वैदिक काल में आर्य लोगों ने कृषि क्षेत्र में अच्छी उन्नति कर ली थी। जमीन को जोतने के लिए बैलों का प्रयोग किया जाता था। खेतों की उपज बढ़ाने के लिए खाद का प्रयोग भी होता था। सिंचाई के लिए झील, जलाशय, नदी व कुएँ का जल काम में लाया जाता था। खेतों में उत्पन्न होने वाले अनाजों में जौ, गेहूँ, धान, माष (Masha) व तिल प्रमुख थे। यद्यपि वैदिक आर्यों की आजीविका का मुख्य साधन कृषि था, पर धीरे-धीरे अनेक प्रकार के शिल्पों और व्यवसायों का भी विकास हो रहा था।

तक्षक (बढ़ई), हिरण्यकार (सुनार), कर्मार (धातुशिल्पी), चर्मकार (मोची), तंतुवाय (जुलाहा) आदि अनेक व्यवसायियों का उल्लेख मिलता है। दास शिल्पियों को गुलाम रूप में रखकर आर्य गृहपति अनेक प्रकार के व्यवसायों का संचालन करने लग गए थे।

वैदिक युग के आर्य अनेक धातुओं का प्रयोग जानते थे। सभ्यता के क्षेत्र में वे आगे बढ़ चुके थे। सुवर्णों और रजत का प्रयोग वे आभूषणों और पात्रों के लिए करते थे, पर 'अयस्' नामक एक धातु को वे अपने औजार बनाने के लिए काम में लाते थे। संस्कृत भाषा में 'अयस' का अर्थ लोहा है पर अनेक विद्वानों का विचार है कि यह 'अयस' लोहा न होकर ताँबा है। इस धातु से कवच, शिरस्त्राण, बाण तथा अन्य हथियार और औजार बनाए जाते थे। इस प्रकार ऋग्वैदिक आर्य धातु गलाने और उसे पीटकर विभिन्न आकार देने में निपुण थे।

वस्त्र निर्माण का शिल्प इस युग में अच्छा उन्नत हो चुका था। आर्य सूत कातना और कपड़ा बुनना जानते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल में कताई, बुनाई और कढ़ाई के कार्य प्रायः नारियाँ करती थी। इस काल में संभवतः कपास, सन, आदि से वस्त्र बनते होंगे। समाज का निम्न, निर्धन तथा ब्रह्मचारियों, तपस्वियों का वर्ग, पशु चर्म और वृक्ष-त्वचा को भी धारण करता था।

अनेक स्थानों के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि भिषक् (चिकित्सक अथवा वैद्य) का व्यवसाय काफी विकसित हो चुका था। इसमें शल्य चिकित्सा भी सम्मिलित थी। ऋग्वेद में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता जिससे यह स्पष्ट हो कि अमुक व्यवसाय किसी एक वर्ग के लिए ही निर्धारित था। समाज में समस्त कार्यों की प्रतिष्ठा थी। व्यवसाय के आधार पर ऊँच-नीच की भावना का अभी तक उदय नहीं हुआ था। इस काल में कदाचित् कुछ व्यवसायों ने अपने संगठन अथवा संघ बना लिए थे। परंतु उनकी कार्य प्रणाली स्पष्ट नहीं है।

व्यापार के लिए इस युग में वस्तु विनिमय का प्रयोग होता था। ऋग्वेद में 'गाय' मुद्रा के रूप में प्रतिष्ठित थी। 'गाय' को मूल्य की इकाई मान कर विनिमय का काम चलाया जाता था। धातु द्वारा निर्मित किसी सिक्के का चलन इस युग में था या नहीं, यह निश्चित नहीं हो पाया है। 'निष्क' नामक स्वर्ण मुद्रा का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है, परंतु इस पर विद्वानों में मतभेद है। संभवतः उसका उपयोग मुद्रा की अपेक्षा आभूषण के रूप में अधिक था। वैदिक साहित्य में नौकाओं का अनेक स्थान पर वर्णन मिलता है। इनमें से कतिपय नौकाएँ विशाल भी हैं। संभवतः ऋग्वैदिक काल में स्थल एवं जल मार्ग द्वारा व्यापार के लिए दूर-दूर तक जाते थे।

2.2.6. धार्मिक जीवन

वैदिक साहित्य प्रधानतया धर्मपरक है। ऋग्वेद में आर्यों की अविकसित धार्मिक विचारधारा से लेकर सम्यक रूप से विकसित धार्मिक विचारधारा तक के दर्शन होते हैं। ऋग्वेद में 'देव' अथवा 'देवता' शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। इसके अंतर्गत परम पुरुष से लेकर प्रकृति की विभिन्न शक्तियों की गणना होती थी। आर्यों की सर्वोच्च दैवी शक्ति परम पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित हुई। प्रकृति की विभिन्न शक्तियाँ, जैसे— इंद्र, वरूण, सूर्य, चंद्र, वायु, उषा आदि देवता और देवी बन गई। प्रकृति में अनेक शक्तियों की पूजा की जाती थी। यद्यपि इस समय के बहुसंख्यक वैदिक देवी-देवता प्राकृतिक शक्तियों के मूर्तरूप हैं, पर कतिपय देवता ऐसे भी हैं जिन्हें भावरूप समझा जा सकता है।

ऋग्वेद में सूर्य की आराधना को महत्व दिया गया है। उसे मनुष्यों के समस्त सत-असत् कर्मों का द्रष्टा माना गया है। विष्णु देवता को संसार का संरक्षक माना जाता था। अग्नि देवता को बहुत महत्व दिया जाता था, उसे सूर्य के समान ही प्रकाशवान माना जाता था। यज्ञ में भी अग्नि का विशेष महत्व था। इंद्र वर्षा का देवता था, उसे आकाश, पृथ्वी, जल और पर्वत सभी का राजा माना जाता था। उपर्युक्त देवताओं के अतिरिक्त ऋग्वेद में मरूत, वात, अश्विन्, रुद्र आदि अन्य देवता भी थे। ऋग्वैदिक काल में देवियाँ भी अनेक संख्या में पाई जाती थीं— (1) द्युलोक के देवता— यथा सूर्य, सावित्री, पूषन्, विष्णु, वरूण और मित्र (2) अंतरिक्षस्थानीय देवता— यथा, इंद्र, वायु, मरुत और पर्जन्य (3) पृथ्वी स्थानीय देवता— यथा अग्नि, सोम और पृथ्वी। अदिति, उषा, सरस्वती आदि देवियों का उल्लेख भी मिलता है।

2.2.6.1. पूजा विधि

इन विविध देवताओं की पूजा के लिए वैदिक आर्य विविध यज्ञों द्वारा अनुष्ठान करते थे। यज्ञकुंड में अग्नि का आधान कर दूध, घी, अन्न, सोम आदि सामग्री की आहूति दी जाती थी। याज्ञिक कर्मकाण्ड के अतिरिक्त स्तुति और प्रार्थना भी देवताओं की पूजा के महत्वपूर्ण साधन थे। मंत्रों द्वारा देवता के गुणों का ध्यान कर मनुष्य उन गुणों को अपने में धारण व विकसित करने की आशा रखते थे, देवपूजा की यह एक विधि थी। बाह्य यज्ञों के साथ-साथ मनुष्य की अंतःशुचि और उसके अन्यान्य सद्गुणों पर भी जोर दिया जाता था। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक धर्म नैतिक भी था।

ऋग्वेद में पाप पुण्य तथा स्वर्ग नरक की कल्पना भी मिलती है। मृत्यु के पश्चात् पुण्यकर्मा मनुष्य सानंद स्वर्ग में रहता है, जबकि पापकर्मा मनुष्य नरक में जाता है। ऋग्वेद में अमरता का उल्लेख है, परंतु मोक्ष का उल्लेख नहीं मिलता है। कदाचित् स्वर्ग ही मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य था।

2.2.7. सारांश

वैदिक सभ्यता का भारतीय इतिहास में श्रेष्ठ स्थान है। हिंदू धर्म, दर्शन, आध्यात्मिक विचारधारा तथा सामाजिक व्यवस्था एवं मान्यताओं पर उसका गंभीर प्रभाव है। इस सभ्यता एवं संस्कृति का निर्माण भारतीय आर्यों ने किया। वैदिक युग को दो भागों में बाँटा जाता है— ऋग्वैदिक काल एवं उत्तरवैदिक काल। उस काल में राज्य का प्रधान राजा होता था। उसका कर्तव्य प्रजा की सुरक्षा, राज्य विस्तार करना, न्याय करना, दंड देना आदि था। अन्य पदाधिकारी राजकीय कार्यों में राजा को सहायता प्रदान करते थे, जिनमें

पुरोहित, सेनापति, दुर्गपति मुख्य थे। 'सभा' और 'समिति' शासन व्यवस्था में महत्वपूर्ण लोकतांत्रिक संस्थाएँ थीं। समिति 'जनसभा' व सभा 'राजा' की एक छोटी परिषद थी।

आर्यों का जीवन व्यवस्थित था। 'परिवार' एक महत्वपूर्ण इकाई थी। विवाह एक पवित्र संस्कार था। स्त्रियों का समाज में उच्च स्थान था। उनका खान-पान सरल था। सुरापान का भी प्रचलन था। उनकी वेषभूषा साधारण थी। वे आभूषणों का प्रयोग भी करते थे। इनके आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि एवं पशुपालन था। अनेक प्रकार के शिल्पों एवं व्यवसायों का विकास भी हो चुका था। आर्य अनेक धातुओं से परिचित थे। व्यापार के लिए मुख्यतया वस्तु-विनिमय का प्रयोग होता था। इस काल में अनेक देवताओं की चर्चा की गई है, देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ किए जाते थे।

2.2.8. बोध प्रश्न

1. ऋग्वैदिक कालीन आर्य सभ्यता का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
2. ऋग्वैदिक काल के आर्यों के जीवन पर प्रकाश डालिए।
3. वैदिक साहित्य के आधार पर आर्यों के सामाजिक जीवन की विवेचना कीजिए।
4. ऋग्वैदिक युग के धार्मिक जीवन का वर्णन करें।
5. प्राचीन आर्यों की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।

2.2.9. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1. पाण्डेय, विमल चन्द्र. (2002). *प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास (भाग-1).* इलाहाबाद : सेंट्रल पब्लिशिंग हाउस।
2. विद्यालंकार, सत्यकेतु. (1987). *प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन.* मसूरी : श्री सरस्वती सदन।
3. शर्मा, एल. पी. (2007). *प्राचीन भारत.* आगरा : लक्ष्मी नारायण अग्रवाल।
4. झा, द्विजेन्द्र नारायण. (1997). *प्राचीन भारत का इतिहास.* नई दिल्ली : हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय।
5. शर्मा, रामशरण, प्रारंभिक भारत का परिचय

खंड - 2 : वैदिक काल

इकाई - 3 : उत्तरवैदिक काल (1000-600BC) राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन

इकाई की रूपरेखा

2.3.1. उद्देश्य
2.3.2. प्रस्तावना
2.3.3. राजनीतिक जीवन
2.3.3.1. राज्य का प्रादुर्भाव
2.3.3.2. राजा का दैवी अधिकार
2.3.3.3. सभा और समिति
2.3.4. सामाजिक जीवन
2.3.4.1. वर्ण व्यवस्था
2.3.4.2. आश्रम व्यवस्था
2.3.5. आर्थिक जीवन
2.3.6. धार्मिक जीवन
2.3.7. सारांश
2.3.8. बोध प्रश्न
2.3.9. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

2.3.1. उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य वैदिक काल के दूसरे चरण, उत्तर वैदिक काल के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन से अवगत कराना है तथा ऋग्वैदिक काल के जीवन से इस काल में आए परिवर्तनों से भी परिचित कराना है।

2.3.2. प्रस्तावना

वैदिक काल का दूसरा एवं अंतिम चरण उत्तर वैदिक काल कहलाता है। इसका आशय उस युग से है, जिसमें अन्य तीनों वेदों— यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद एवं ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों की रचना हुई। इस काल की अवधि ईसा पूर्व लगभग 1000 से आरंभ होती है और 600 ईसा पूर्व के लगभग में समाप्त होती है। उत्तरवैदिक कालीन साहित्य से तत्कालीन समाज का जो चित्र प्राप्त होता है, वह ऋग्वैदिक कालीन समाज से भिन्न है। इस काल में आर्यों का राजनीतिक और वैचारिक दोनों ही क्षेत्रों में सराहनीय प्रसार हुआ। उत्तरवैदिक कालीन साहित्य में उत्तरकालीन संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदें सम्मिलित हैं। उपर्युक्त सभी ग्रंथों के काल ईसा पूर्व 1000 से लेकर 600 ईसा पूर्व तक के बीच के हैं। यह एक ऐसा चरण था, जिसमें आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि दृष्टिकोण से समाज में परिवर्तन हो रहा था।

ऋग्वैदिक सभ्यता का केंद्र पंजाब था, लेकिन उत्तर वैदिक काल की सभ्यता का विस्तार पंजाब के अलावा हरियाणा, राजस्थान, पश्चिमी उत्तरप्रदेश तक हो गया था। छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर बड़े राज्यों की स्थापना का वातावरण भी इस काल में होने लगा था। यद्यपि जनों के सम्मिश्रण और दिग्विजयों के फलस्वरूप ऋग्वैदिक काल से ही विशाल राज्यों का उदय हो चला था, तथापि उत्तर वैदिक काल में यह प्रक्रिया और तेज हो गई थी। इस काल के कुछ प्रसिद्ध राज्य थे— गांधार, कैकय, मद्र, मत्स्य, कुरु, पंचाल, काशी, कलिंग, अवंति, अश्मक राष्ट्र, विदर्भ, कौसल, विदेह, मगध आदि।

2.3.3. राजनीतिक जीवन

उत्तरवैदिक काल के संपूर्ण साहित्य में राजाओं अथवा राजतंत्रात्मक राज्यों का उल्लेख मिलता है। राजतंत्र के विभिन्न रूप भी मिलते हैं, साम्राज्य का संस्थापक सम्राट कहलाता था। राज्य छोटे और बड़े दोनों प्रकार के ही होते थे। साम्राज्य शक्तिशाली, स्वतंत्र एवं विशाल थे। उत्तरवैदिक साहित्य में राज्य एवं राजा के प्रादुर्भाव के विषय में विभिन्न प्रकार के वर्णन मिलते हैं। अथर्ववेद के अनुसार राज्य नामक संस्था कई वर्षों के क्रमिक विकास का परिणाम है।

2.3.3.1. राज्य का प्रादुर्भाव

यद्यपि राजा, सभा और समिति जैसी राजकीय संस्थाओं के प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद में मिल जाते हैं, परंतु इसके क्रमिक विकास का विवरण सर्वप्रथम अथर्ववेद में मिलता है। अथर्ववेद के अनुसार सृष्टि के आरंभ में राज्यविहीन दशा थी, जिससे अराजकता फैल रही थी, जिससे भयभीत होकर मनुष्य ने संगठित होना प्रारंभ किया। सर्वप्रथम वे परिवार के रूप में संगठित हुए, फिर ग्राम के रूप में। इसके बाद क्रमश: सभा, समिति नामक संगठनों का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार पहले परिवार, फिर ग्राम और तब जनपद के रूप में विकास हुआ।

ऐतरेय ब्राह्मण के उल्लेख के अनुसार एक बार देवताओं और असुरों के बीच युद्ध हो रहा था, जिसमें देवता बार-बार पराजित हो रहे थे। तब उन्होंने वस्तुस्थिति पर विचार किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि राजविहीन होने के कारण उनकी पराजय हो रही है। अतः उन्होंने सोम को अपना राजा बनाया और उसके नेतृत्व में पुनः युद्ध किया, इस बार उनकी विजय हुई। इसी प्रकार का उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण में मिलता है, इसके अनुसार समस्त देवताओं ने मिलकर इंद्र को राजा बनाने का निश्चय किया, क्योंकि वे सब से सबल और प्रतिभाशाली थे। इस प्रकार राजा का प्रादुर्भाव असुरक्षा, असंगठन, पराभव और अशांति को दूर करने के लिए हुआ था। राजपद सबसे अधिक सबल और सुयोग्य व्यक्ति को मिलता था। राजप्रतिष्ठा के पीछे जनमत था। जनता ने आपस में समझौता करके राजा को प्रतिष्ठित किया था।

2.3.3.2. राजा का दैवी अधिकार

वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत उत्तरोत्तर मजबूत हो रहा था। ब्राह्मणकाल में यज्ञों की महत्ता बढ़ी और लोगों का विश्वास हो गया कि अश्वमेध और वाजपेय यज्ञों के करने से राजा देवता के समान हो जाता है। सभी ग्रंथों में अधार्मिक और निरंकुश राजा की निंदा की गई है। उनके मत के अनुसार राजा को सदैव धर्म के अनुकूल व्यवहार करना चाहिए।

अनेक वैदिक साक्ष्यों के अनुसार कभी-कभी राजा का निर्वाचन भी होता था। एक स्थान पर कहा गया है कि जिसे समस्त प्रजा तथा राज्य का अनुमोदन प्राप्त होता है, वही राजा होता है। परंतु समाज में वंशानुगत राजाओं की परंपरा भी प्रतिष्ठित थी।

प्राचीन भारत में राज्याभिषेक का राजनीतिक, धार्मिक और वैधानिक महत्व था। राजा के लिए राज्य के पदाधिकारी रत्नियों का सहयोग और अनुमोदन प्राप्त करना आवश्यक समझा जाता था। जनता में राजा प्रतिष्ठित था। राजा अपनी प्रजा के प्रति अपने उत्तरदायित्वों को समझता था।

2.3.3.3. सभा और समिति

वैदिक साहित्य के अनुसार प्राचीन भारत में राजा का पद निरंकुश नहीं होता था, अपितु उसे परामर्श देने के लिए और उस पर अंकुश रखने के लिए सभा और समिति जैसी राजनीतिक संस्थाएँ थीं। अथर्ववेद में सभा और समिति का वर्णन प्रजापति की दो पुत्रियों के रूप में हुआ है, जिससे प्रतीत होता है कि वैदिक काल में इन दो संस्थाओं को ईश्वर निर्मित माना जाता था।

सभा शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में भी यदा-कदा किया गया है। सभा के सदस्यों को 'सभेय' कहा गया है। इन विवरणों के अनुसार सभा में प्रायः राजनीतिक, प्रशासनिक और न्यायसंबंधी कार्यों पर विचार-विमर्श किया जाता था। सभा की बैठक में यज्ञ किए जाने की चर्चा की गई है। यज्ञाग्नि को 'सभ्य' कहा जाता था। यजुर्वेद में सभा के प्रमुख को 'सभापति' कहा गया है तथा सभा एवं सभापति को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। सभा में राजा की उपस्थिति अनिवार्य होती थी। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि राजा के लिए सभा का परामर्श अत्यंत महत्वपूर्ण होता था और वह सभा के निर्णयों की उपेक्षा नहीं कर सकता था। उत्तरवैदिक काल तक सभा एक बृहत राजनीतिक संस्था का रूप ले चुकी थी तथा सभासदों का पद अत्यधिक सम्मान्य समझा जाता था। अथर्ववेद में सभा और फिर समिति का उल्लेख वैधानिक विकास की ओर संकेत करता है। समिति राज्य की केंद्रीय संस्था प्रतीत होती है। अथर्ववेद में राजा के लिए समिति के चिर सहयोग की शुभाकांक्षा प्रकट की गई है। समिति के निर्णय वाद-विवाद के पश्चात् ही होते थे। यह संस्था अत्यंत प्रभावशाली थी। यह राजसंस्था थी, जिसमें राजनीतिक विषयों के अतिरिक्त दार्शनिक एवं धार्मिक वाद-विवाद भी होते थे। संभवतः इसीलिए वेदों में विचारों की एकता पर बल दिया गया है। अनेक स्थानों पर प्रार्थना की गई है कि समिति की कार्यवाही सौहार्दपूर्ण हो, सदस्यों में मेल-जोल रहे और उसके निर्णय एक मत से हों। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर समिति में राजा की अध्यक्षता में होने वाले वाद-विवादों का उल्लेख है, परंतु उपनिषद काल के पश्चात् समिति पूर्ण रूप से तिरोहित हो जाती है, उसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता है।

2.3.4. सामाजिक जीवन

उत्तरवैदिक काल में प्रमुख रूप से आर्यजीवन ग्रामों में ही संगठित था। साधारणतया ग्रामीणों का ही ग्रामों के ऊपर सांपत्तिक अधिकार था एवं राजा राजकर का ही अधिकारी था। प्रत्येक ग्राम में अनेक गृह होते थे, जिनमें माता-पिता, भाई-बहन आदि सभी सम्मिलित रूप से रहते थे। परिवार का मुखिया मुख्य रूप से पिता होता था। परिवार के सदस्यों के ऊपर पिता के अधिकार विशाल थे। उसकी संपत्ति पर पुत्रों का अधिकार था। प्रायः घरों में कई कक्ष होते थे।

उत्तरवैदिक कालीन समाज में पुत्रों की अपेक्षा पुत्री की अवस्था हीन थी, परंतु वह नितांत उपेक्षित भी नहीं थी। अथर्ववेद में ऐसी कन्याओं का उल्लेख भी मिलता है, जो अविवाहित रूप में आजीवन अपने माता-पिता के साथ रहती थीं, परंतु सामान्य रूप में अविवाहित रहने की प्रथा न थी। अविवाहित पुरुष भी अपूर्ण माना जाता था। उसे यज्ञ का अधिकार भी नहीं था। यज्ञादि के लिए पुत्र भी आवश्यक था और उसकी प्राप्ति के लिए विवाह आवश्यक था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार समाज में पुरुष के बहुविवाह का प्रचलन था, परंतु इसके अधिकांश उदाहरण धनी एवं राजकीय वर्गों में ही मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सामान्य पुरुष एकपत्नीक ही था। इस काल में विधवा स्त्री का पुनर्विवाह हो सकता था। अधिकांशतः सजातीय विवाह ही होते थे, यद्यपि कहीं कहीं अंतर्जातीय विवाह के उल्लेख मिलते हैं।

इस युग में स्त्रियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त करती थीं और याज्ञिक अनुष्ठान में पुरुषों को सहयोग प्रदान करती थीं। स्त्रियों की संगीत नृत्य में बड़ी रुचि होती थी। गान-विद्या में प्रवीण होने के साथ-साथ वे मंत्रों को भी समझती थीं। उपनिषदों में भी अनेक विदूषी स्त्रियों के उदाहरण मिलते हैं। उपनिषदों में ब्रह्मवादिनी स्त्रियों के दल की जानकारी मिलती है, जिसमें प्रमुख गार्गी थी। जनक की सभा में गार्गी ने याज्ञवल्क्य के साथ शास्त्रार्थ किया था। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी भी परम विदूषी थी। उत्तरवैदिक कालीन समाज की स्त्री घरेलू शिक्षा के प्रति भी तत्पर रहती थी। गृहस्थ जीवन में भोजन पकाने के साथ ही ऊन और सूत की कताई-बुनाई का काम भी प्रमुखतया स्त्रियाँ ही करती थीं।

2.3.4.1. वर्ण व्यवस्था

उत्तरवैदिक काल में वर्ण व्यवस्था काफी विकसित हो चुकी थी। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के अनेक मंत्रों में चारों वर्णों का उल्लेख है। अथर्ववेद राजन्य, ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्र इन चार सामाजिक विभागों का उल्लेख करता है।

उत्तरवैदिक काल में ब्राह्मणों का सम्मान बढ़ गया था, इसका कारण था कि याज्ञिक कर्मकाण्ड का जटिल रूप इस काल में विकसित हो चुका था। वह दिव्य वर्ण माना जाने लगा, क्योंकि अरण्यों व आश्रमों में निवास करने वाले तत्वचिंतकों को भी ब्राह्मणों के इसी वर्ग में गिना जाने लगा।

विविध आर्यजनों ने जब सप्त सैंधव देश से आगे बढ़कर फैलना शुरू किया तो वहाँ के मूल निवासियों से उन्हें युद्ध करना पड़ा, जिससे जोराजन्य वर्ग युद्ध में अपनी योग्यता प्रदर्शित करते थे, उस प्रकार से भी एक नए वर्ग का विकास हुआ, जिसे 'क्षत्रिय' कहा जाता था। इन व्यक्तियों की स्थिति भी सर्वसाधारण की तुलना में अधिक ऊँची थी।

ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अतिरिक्त जो सर्वसाधारण आर्य जनता थी, उसमें सब प्रकार के शिल्पी, वणिक, कृषक, पशुपालक आदि सम्मिलित थे, उसे 'वैश्य' कहा जाता था। समाज में जो सबसे निम्न वर्ग था और जो आर्य गृहस्थों की सेवा में दास, कर्मकर आदि के रूप में कार्य करता था, उसे शूद्र कहते थे।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में ब्राह्मण के लिए सूत के, क्षत्रिय के लिए सन के और वैश्य के लिए ऊन के यज्ञोपवीत का विधान किया गया है। इससे विदित होता है कि ब्राह्मण ग्रंथों की रचना के समय में वर्णभेद ने अच्छा विकसित रूप प्राप्त कर लिया था, पर दिए गए उद्धरणों से यह भी स्पष्ट होता है कि वर्ण भेद ने अधिक जटिल रूप प्राप्त नहीं किया था और उसका आधार पूर्णतया जन्म को ही नहीं माना जाता था।

2.3.4.2. आश्रम व्यवस्था

प्राचीन आर्यों के सामाजिक जीवन में आश्रमों का बहुत महत्व था। चार आश्रम - ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास थे। इन आश्रमों की कल्पना का आधार यह था कि प्रत्येक मनुष्य देवताओं, ऋषियों, पितरों एवं अन्य मनुष्यों के प्रति ऋणी होता है। अतः मनुष्य का कर्तव्य है यज्ञ द्वारा उनके ऋण को अदा करें। ऋषियों के प्रति ऋण को अदा करने के लिए मनुष्य को उस ज्ञान को कायम रखते हुए उसमें वृद्धि करना चाहिए। इसके लिए मनुष्य ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर ज्ञान उपार्जन करता था। अपने माता-पिता के प्रति मनुष्य का जो ऋण है, उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके ही अदा किया जा सकता था। गृहस्थ धर्म से संतानोत्पत्ति करके अपने पितरों के वंश को जारी रखना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य समझा जाता था। साधारणतः गृहस्थ आश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करते थे, इसमें अपने ज्ञान को ब्रह्मचारियों को प्रदान करना चाहिए। संन्यास आश्रम में प्रवेश करके मनुष्य अपने साथियों के उपकार करने में समय व्यतीत करता था, इस प्रकार वह मनुष्य ऋण को भी अदा करता था। उसका कर्तव्य था कि वह भ्रमण करते हुए उपकार करे।

2.3.5. आर्थिक जीवन

ऋग्वैदिक युग के समान उत्तरवैदिक युग में भी आर्यों के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि ही थी। आर्य जनता का बड़ा भाग खेती द्वारा अपना जीवन निर्वाह करता था। कृषि हल-बैल की सहायता से होती थी। हलों को खींचने के लिए बैल काम में लाए जाते थे। इस युग में ऐसे भारी हलों का प्रयोग भी होने लगा था, जिन्हें खींचने के लिए छह, आठ, बारह या चौबीस बैल जोते जाते थे। ब्राह्मण ग्रंथों में ऐसे भारी हलों के उल्लेख मिलते हैं। ग्रंथों में जोताई, बोआई, कटाई और मड़ाई की चर्चा की गई है। जमीन की उर्वरा शक्ति को बढ़ाने के लिए गोबर का खाद के रूप में प्रयोग किया जाता था। ब्राह्मण ग्रंथों में अनेक स्थानों पर शकृत (गोबर) और करिष (सूखा गोबर) शब्द मिलते हैं। इस युग में खेतों की सिंचाई की समुचित व्यवस्था की जाने लगी थी। वर्षा और कुएँ के अतिरिक्त अथर्व वेद नहरों के पानी का भी उल्लेख करता है। तैत्तिरीय उपनिषद में लिखा है कि अन्न ही ब्रह्म है, उसी से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और उसी से सबकी आजीविका चलती है। अधिक मात्रा में अन्न उत्पादन धान, जौ, उड़द, गन्ना, तिल आदि की कृषि की जाती थी। अन्य ग्रंथों में गेहूँ, मूँग, मसूर, आदि उपज का वर्णन भी मिलता है।

कृषि के साथ-साथ पशुपालन भी इस युग के आर्यों के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार था। वे बड़ी संख्या में गाय, बैल, भेड़, बकरी आदि पशुओं को पाला करते थे। इस समय भी गाय समाज का प्रमुख पशु मानी जाती थी। दूध-घी के लिए भी गायों का उपयोग किया जाता था। गृहस्थ, कृषक के अतिरिक्त मुनि वर्ग भी गोपालन किया करते थे।

अनेक शिल्प और व्यवसाय भी इस युग में विकसित हो चुके थे। इस काल में सोने का उल्लेख बार-बार मिलता है। उत्तरवैदिक काल में सोने के आभूषणों का प्रयोग बहुतायत में होता था। सोने के भाँति चाँदी का भी प्रयोग आभूषणों के निर्माण में किया जाता था। इस युग में त्रपु (टिन), ताम्र, लौह, रजत, सीसे का प्रयोग किया जाने लगा था। इन धातुओं को उपकरणों आदि के निर्माण में प्रयोग में लाया जाता था। इस काल में ऊनी कपड़ों का निर्माण विशेष रूप से होता था। अथर्ववेद में शण (सन) का उल्लेख हुआ है। इससे वस्त्र, चटाइयाँ आदि बनाई जाती थीं। सूत कातने का कार्य प्रायः स्त्रियाँ ही करती थीं।

अनेक शिल्प और व्यवसाय भी इस युग में विकसित हो गए थे। तन्तुवाय (जुलाहे), रजक (रंगरेज), रज्जुकार, सुवर्णकार, लौहकार, रथकार, कुंभकार (कुम्हार), नर्तक, गायक, व्याध आदि कई प्रकार के शिल्पियों का उल्लेख ब्राह्मण ग्रंथों में मिलता है। धातुओं के ज्ञान में वृद्धि के कारण इस काल में आर्थिक उत्पादन के साधन बहुत उन्नत हो गए थे। शिल्पियों में तक्षक (बढ़ई), रथकार, कर्मार (धातु शिल्पि), धन्वकृत (धनुष बनाने वाले) आदि का वर्णन मिलता है।

कृषि और शिल्पों का विकास व्यापार भी इस युग में अच्छी उन्नत दशा में था। अथर्व वेद के अनुसार देश के व्यापारी अपनी सामग्री के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमा करते थे। वस्तुओं के विनिमय के लिए अब सिक्कों का भी प्रयोग किया जाने लगा था। उत्तरवैदिक काल में 'निष्क' का उल्लेख मिलता है। 'निष्क' आभूषण था या सिक्का, इस संबंध में मतभेद है। उत्तर वैदिक साहित्य में 'शतमान' का उल्लेख मिलता है। विद्वानों के अनुसार 'शतमान' मुद्रा थी।

वैदिक ग्रंथों में 'वणिज' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ व्यापारी है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग के कृषक, शिल्पी, व्यापारी अनेक श्रेणियों में संगठित होने लगे थे। ब्राह्मण ग्रंथ में 'श्रेष्ठी' शब्द मिलता है। कदाचित् यह किसी व्यावसायिक संघ का अध्यक्ष होता था।

2.3.6. धार्मिक जीवन

भारत के प्राचीन ऋषियों ने जिन सूक्तों का निर्माण या दर्शन दिया, वे वैदिक संहिताओं में संग्रहीत हैं। आर्यों के वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक जीवन का क्या नियम हो, वे किन संस्कारों और याज्ञिक कर्मकांड का अनुष्ठान करें— इस महत्वपूर्ण विषय का प्रतिपादन वेदांगों में किया गया है। ब्राह्मण-ग्रंथों में याज्ञिक कर्मकांड का बहुत विशद रूप से प्रतिपादन था। आगे चलकर वैदिक अनुष्ठानों को संक्षेप के साथ प्रतिपादित किया गया।

उत्तरवैदिक काल में याज्ञिक कर्मकाण्ड और विधि-विधानों का रूप निरंतर जटिल होता गया। इस काल में कतिपय विचारकों ने यज्ञों की जटिलता को निरर्थक समझकर तप, स्वाध्याय और सदाचरण पर जोर देना शुरू किया, जिसके परिणामस्वरूप बहुत से मुनि, योगी और तपस्वी उपनिषदों आदि में वर्णित तत्वचिंतन में प्रवृत्त हुए। याज्ञिक कर्मकाण्ड के वैज्ञानिक विवेचन के लिए इस काल में एवं आगे चलकर दर्शन-शास्त्रों का विकास किया गया।

इस युग के देवता प्राकृतिक शक्तियों के मूर्त रूप थे। विश्व की मूल शक्ति जिस प्रकार प्रकृति के विविध रूपों में अभिव्यक्त होती है, उसे दृष्टि में रख कर आर्यों ने अनेक देवी-देवताओं की कल्पना की थी। यज्ञकुंड में अग्नि में अनेक आहुतियाँ दी जाती थीं और देवताओं को तृप्त किया जाता था। धीरे-धीरे यज्ञों का रूप जटिल होता गया। ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञ करने की प्रक्रिया एवं याज्ञिक विधि के प्रयोजन के विषय में बड़े विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। जन्म से मृत्यु तक प्रत्येक गृहस्थ को अनेक प्रकार के यज्ञ करने होते थे, जिनमें पाँच महायज्ञों का अनुष्ठान आवश्यक था—

1. देवयज्ञ— प्रातः और सांय, दोनों कालों में विधिपूर्वक अग्न्याधन करके जो हवन किया जाए, उसे देवयज्ञ या अग्निहोत्र यज्ञ कहते थे।
2. पितृयज्ञ— पितरों और पूजनीय व्यक्तियों के तर्पण व सम्मान का नाम पितृयज्ञ था।
3. नृयज्ञ— अतिथियों की सेवा व सत्कार को नृयज्ञ या अतिथियज्ञ कहते थे।

4. ऋषियज्ञ— वैदिक ग्रंथों के अनुशीलन को ऋषियज्ञ अथवा ब्रह्म यज्ञ कहते थे।
5. भूतयज्ञ— घर में जो भी भोजन बनता था, उसका एक भाग कुत्ते, कौवे और चींटी जैसे प्राणियों के लिए अलग कर दिया जाता था। इसे ही भूतयज्ञ अथवा बलिवैश्वदेवयज्ञ कहते थे।

इन दैनिक यज्ञों के अतिरिक्त विशेष अवसरों पर विशेष यज्ञों का भी विधान था। कतिपय यज्ञ ऐसे भी थे जिनके लिए प्रचुर द्रव्य की आवश्यकता होती थी और जिन्हें विशिष्ट व्यक्ति ही संपादित कर सकते थे। जब किसी व्यक्ति को राजा के पद पर अधिष्ठित किया जाता था, तो राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान करना आवश्यक था। चक्रवर्ती पद प्राप्त करने की आकांक्षा रखने वाले राजा अश्वमेध यज्ञ किया करते थे। ब्राह्मण ग्रंथों में अजामेध, गोमेध और पुरुषमेध आदि यज्ञों का भी उल्लेख मिलता है, जिनसे यज्ञों में पशुओं और मनुष्यों की बलि देने की बात सूचित होती है।

समस्त वैदिक देवी-देवताओं में वरूण, मित्र, सूर्य, सविता, विष्णु, इंद्र, रुद्र, अग्नि, पृथ्वी, सरस्वती, सोम आदि थे। वैदिक काल में इन मूर्त देवताओं के अतिरिक्त कुछ अमूर्त देवताओं का अस्तित्व भी था। उत्तरवैदिक युग के धार्मिक जीवन में संस्कारों का स्थान भी बहुत महत्वपूर्ण थे। व्यक्ति के पूर्ण जीवन में संस्कारों की कुल संख्या सोलह थी।

याज्ञिक कर्मकांडों की जटिलता से आगे चलकर असहमति भी व्याप्त होने लगी। जिससे भारत में तत्वचिंतन की उस लहर का प्रारंभ हुआ, जिससे बहुत से मुनि, योगी, तपस्वी का जन्म हुआ। इनके चिंतन के कारण भारत में जो नया ज्ञान विकसित हुआ, वही उपनिषदों और दर्शन ग्रंथों में संग्रहीत है। इस काल में एक ओर कर्मकांड तथा यज्ञों के विधि विधानों में बुराइयाँ घुस रही थीं, तो वहीं दूसरी ओर आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान तथा तत्वचिंतन की शक्तिशाली भावना का उदय और क्रमिक विकास भी हो रहा था। इस काल में भारतीय दर्शन अर्थात् सांख्य, योग, न्याय वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदांत का विकास हुआ।

2.3.7. सारांश

वैदिक युग का दूसरा एवं अंतिम युग उत्तर वैदिक काल है। इस काल में सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद एवं अन्य ब्राह्मण ग्रंथों आदि की रचना हुई। इस काल में मुख्यतया राजतंत्रात्मक राज्यों का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण ग्रंथों में राज्यों के प्रादुर्भाव की परिस्थिति की चर्चा कई रूपों में मिलती है। सामान्य रूप से वंशानुगत राजा की नियुक्ति का प्रचलन था। राजा अपनी प्रजा की रक्षा एवं सुख सुविधा के लिए उत्तरदायी था। राजा को परामर्श देने एवं राज्य चलाने में उसका सहयोग देने के लिए 'सभा' एवं 'समिति' संस्थाएँ थीं। ऋग्वैदिक काल की अपेक्षा उत्तरवैदिक काल में स्त्रियों की अवस्था हीन थी। परिवार में पुत्र का महत्व पुत्री से अधिक था। इस काल में वर्ण व्यवस्था पूरी तरह विकसित हो चुकी थी। ब्राह्मणों का सम्मान सर्वाधिक था। सामाजिक जीवन में आश्रमों का भी महत्व बढ़ चुका था। ऋग्वैदिक काल की तरह ही इस काल में भी आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि ही थी। पशुपालन भी आर्थिक जीवन का आधार था। इसके अतिरिक्त अनेक शिल्प एवं व्यवसाय भी विकसित हो चुके थे। इस युग में याज्ञिक कर्मकाण्ड जटिल हो गया था। प्राकृतिक शक्तियों को देवता के रूप में पूजने का प्रचलन था। इनके अतिरिक्त अनेक मूर्त एवं अमूर्त देवता भी महत्व रखते थे।

2.3.8. बोध प्रश्न

1. उत्तरवैदिक काल से आप क्या समझते हैं? उस काल की राजनीतिक अवस्था पर प्रकाश डालिए।
2. उत्तरवैदिक काल की सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था का वर्णन कीजिए।
3. उत्तरवैदिक काल में आर्यों की सभ्यता का समीक्षात्मक विवरण दीजिए।
4. उत्तरवैदिक काल में आर्यों के राजनीतिक संगठन एवं धार्मिक विचारों में आए परिवर्तनों की चर्चा कीजिए।

2.3.9. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1. पाण्डेय, विमलचन्द्र. (2002). *प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास (भाग-1).* इलाहाबाद : सेंट्रल पब्लिशिंग हाउस।
2. विद्यालंकार, सत्यकेतु. (1987). *प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन.* मसूरी : श्री सरस्वती सदन।
3. शर्मा, एल.पी. (2007). *प्राचीन भारत.* आगरा : लक्ष्मी नारायण अग्रवाल।
4. झा, द्विजेन्द्र नारायण. (1997). *प्राचीन भारत का इतिहास.* नई दिल्ली : हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय।
5. शर्मा, रामशरण, प्रारंभिक भारत का परिचय

खंड - 2 : वैदिक काल

इकाई - 4 : महाकाव्य काल - रामायण और महाभारत

इकाई की रूपरेखा

2.4.1. उद्देश्य
2.4.2. प्रस्तावना
2.4.3. महाकाव्यों का रचनाकाल
2.4.3.1. रामायण
2.4.3.2. महाभारत
2.4.4. राजनीतिक अवस्था
2.4.5. सामाजिक अवस्था
2.4.5.1. विवाहों के प्रकार
2.4.6. आर्थिक अवस्था
2.4.7. धार्मिक अवस्था
2.4.8. सारांश
2.4.9. बोध प्रश्न
2.4.10. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

2.4.1. उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य प्राचीन भारतीय इतिहास के महाकाव्य काल के महत्व के साथ ही इस काल की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन का अध्ययन करना है।

2.4.2. प्रस्तावना

महाकाव्य एक विशेष प्रकार की रचना को कहते हैं, जो विशाल ग्रंथ के रूप में रचित होते हैं। प्राचीन भारत में ऐसे दो महाकाव्यों की रचना हुई— रामायण और महाभारत। ये दोनों महाकाव्य महान ग्रंथ माने जाते हैं और आज भी इनके प्रति अपार श्रद्धा की भावना है। भारत के प्राचीन इतिहास काल में रामायण तथा महाभारत महाकाव्यों के रचनाकाल को महाकाव्य काल कहा जाता है। संस्कृत साहित्य में रामायण को यदि काव्य तो महाभारत को इतिहास पुराण माना जाता है। रामायण की रचना महर्षि वाल्मीकि तथा महाभारत की रचना महर्षि व्यास द्वारा की गई थी। वस्तुतः वेदव्यास इनके रचयिता नहीं थे। उन्होंने वैदिक श्रुतियों के अनुसार प्राचीन आख्यानों और राजकुल संबंधी अनुश्रुति का संकलन किया था।

2.4.3. महाकाव्यों का रचनाकाल

प्राचीन आर्यों की ऐतिहासिक गाथाएँ, आख्यान, अनुश्रुति दो मुख्य महाकाव्यों रामायण और महाभारत में संग्रहीत हैं। इन ग्रंथों का रचनाकाल के अनुसार रामायण अधिक प्राचीन है। इन महाकाव्यों के रचनाकाल को निश्चयपूर्वक बतलाना एक अत्यंत जटिल विषय है। इतिहासकारों ने यह स्पष्ट किया है कि

मूल वाल्मीकीय रामायण में केवल पाँच कांड ही थे तथा उनमें से दो कांड प्रथम एवं सप्तम बाद में जोड़े गए हैं। मूल ग्रंथ में हम जिस काव्य का उल्लेख पाते हैं उनमें रामचंद्र को एक आदर्श पुरुष मानकर चित्रित किया गया है, किंतु शेष दोनों कांडों में उन्हें भगवान विष्णु का अवतार माना गया है। मूल ग्रंथ एवं बाद के दोनों कांडों के रचनाकाल में समय का अंतर होना एक साधारण-सी बात प्रतीत होती है। कहा जाता है कि भाषा भी वैदिक काल के बाद की है।

आधुनिक विद्वानों की धारणानुसार महाभारत जैसे विशाल ग्रंथ की रचना किसी कवि द्वारा नहीं की गई है। इसमें समय-समय पर विभिन्न कवियों द्वारा संशोधन किया गया है। महाभारत की कविता रामायण के समान परिष्कृत नहीं है। यह ब्राह्मण एवं उपनिषद ग्रंथों से ही मिलती जुलती भाषा है, किंतु कहीं-कहीं और प्राचीन है। मूल महाभारत में लगभग 8800 श्लोक थे। बाद में चौबीस हजार श्लोक हो गया। ये ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित थे। संभवतः महाभारत के मूल श्लोकों में अन्य वीर गाथाओं, धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों को समय-समय पर काव्य के रूप में जोड़े गए। अब इसमें एक लाख श्लोकों का संकलन पाया जाता है और ये विशाल रूप ले चुका है। इसे 'शतसाहस्त्री संहिता' की संज्ञा दी गई है। मूल कथा की रचना महाभारत युद्ध के काल में अथवा ईसा से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व महर्षि व्यास द्वारा की गई थी। इस ग्रंथ में यवन, पह्लव, शक आदि विजातियों की भी चर्चा मिलती है, जिन्होंने ईसा के लगभग सौ वर्ष पूर्व इस देश में प्रवेश किया था।

आज के महाभारत का जो स्वरूप है उसके अनुसार लगता है कि इसके अधिकांश भाग ईसा के बाद के चार सौ वर्षों में संकलित किए गए। इसमें सारी घटनाओं की व्याख्या अच्छे ढंग से की गई है। बहुत से तथ्य तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक इतिहास की रचना के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है।

विद्वान इतिहासकारों के अनुसार संपूर्ण महाभारत भिन्न-भिन्न कालों में लिखा गया। इसमें वर्णित सुसंगठित एवं विकसित समाज की चर्चा मौर्य एवं गुप्तकाल की है। भारत में सिंधु घाटी सभ्यता के बाद नगरीकरण का द्वितीय चरण डेढ़ हजार वर्ष के बाद छठी शताब्दी ईसा पूर्व से प्रारंभ हुआ। अतः महाभारत में वर्णित भारतवर्ष के नगर छठी शताब्दी ई.पू. से लेकर ईस्वी सन् की चौथी पाँचवी शताब्दी के बीच के हैं।

महाभारत की बहुत ही प्रमुख उपपरिणामों में से एक है— श्रीमद्भागवत गीता, जिसमें कृष्ण समाज के सभी वर्णों को अपना कर्तव्य ईमानदारीपूर्वक करने का उपदेश देते हैं। उनके अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए अगर किसी की जान तक लेनी पड़े तो वह भी करना चाहिए। महाभारत में यह भी वर्णित है कि वे ही वैश्य पाप से मुक्ति पाते थे, जो अपने उपज का छठा भाग ब्राह्मणों को दान देते थे। बौद्धकाल से गुप्तकाल तक हम पाते हैं कि वैश्य ही मुख्य रूप से कर दाता थे।

2.4.3.1. रामायण

रामायण की कथावस्तु राजा रामचंद्र एवं रावण के युद्ध पर आधारित है। इसके रचनाकार महर्षि वाल्मीकि संस्कृत भाषा के आदि कवि माने जाते हैं। रामायण का प्रत्येक चरित्र एक आदर्श रखता है। कौशल्या जैसी माता, लक्ष्मण जैसा भाई, सीता जैसी पत्नी, हनुमान जैसा सेवक और राम जैसा प्रजापालक राजा संसार के साहित्य में अन्यत्र ढूँढ पाना कठिन है। कदाचित् प्रारंभ में वाल्मीकि ने राम के चरित्र को काव्यरूप में लिखा था, बाद में उसी के आधार पर रामायण की रचना हुई। संभवतः रामायण का काव्य 500 ई.पू. के लगभग बना था। पाँचवी सदी ई.पू. के बाद भी वाल्मीकि रामायण में अनेक नए आख्यान जुड़ते गए

और यह महाकाव्य जिस रूप में आजकल उपलब्ध होता है, उसे उसने दूसरी सदी ई.पू. तक ग्रहण कर लिया था। रामायण और महाभारत की प्रधान कथाओं के काल में कई सदियों का अंतर है, परंतु ये दोनों ही ग्रंथ उस युग की दशा पर प्रकाश डालते हैं, जब आर्यों की धर्म, सभ्यता और समाज ने एक स्थिर रूप धारण कर लिया था।

2.4.3.2. महाभारत

महाभारत वेदव्यास द्वारा संकलित एक विशाल ग्रंथ है। यह मुख्य तौर पर काव्य न होकर ऐतिहासिक गाथाओं का संग्रह है। इस समय के महाभारत ग्रंथ में श्लोकों की संख्या लगभग एक लाख है। इसीलिए इसे 'शतसाहस्त्री संहिता' भी कहते हैं। महाभारत ग्रंथ में समय-समय पर नए आख्यानों का समावेश होता रहा। प्रारंभ में महर्षि व्यास ने अपने शिष्य के सम्मुख इस कथा का प्रवचन किया था। इस मूलग्रंथ का नाम 'जय' था। समय के साथ-साथ उसमें अनेक प्रकरण जोड़े गए। धीरे-धीरे वह 'शतसाहस्त्री संहिता' बन गई। इस महाकाव्य का प्रधान विषय कौरवों और पाण्डवों के बीच उस महायुद्ध का वर्णन है, जो कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में लड़ा गया। तथापि प्रसंगवश उसमें भारत की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति, तत्वज्ञान, धर्मशास्त्र, राजधर्म और मोक्षशास्त्र का भी विस्तृत समावेश है। अतः इसे प्राचीन भारतीय ज्ञान का विश्वकोश भी माना जाता है। भगवान श्रीकृष्ण की 'भगवद्गीता' भी महाभारत का ही एक अंग है। तत्वज्ञान और धर्म की दृष्टि से गीता संसार की उत्कृष्ट पुस्तक है। वैदिक युग से भारत में ज्ञान और तत्वचिंतन की उत्पन्न लहर इस काल तक चरम सीमा छू चुकी थी। महाभारत के अनुशीलन द्वारा सभ्यता और संस्कृति का चित्र पूरे समाज को परिलक्षित करता है।

2.4.4. राजनीतिक अवस्था

महाभारत में राज्य की उत्पत्ति के विषय में पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। इसके अनुसार एक स्वर्ग युग वाले समाज में धर्म भावना से सभी मनुष्य सुख-शांति से रहते थे, परंतु धीरे-धीरे राजा और दंड व्यवस्था के न होने के कारण अराजकता फैलने लगी, जिसके कारण देवता ब्रह्मा के पास गए। व्यवस्थित करने के लिए ब्रह्मा ने एक नीतिशास्त्र की रचना की और संसार में धर्माचरण की प्रतिष्ठा कराने के लिए एक मानसपुत्र उत्पन्न किया। इस प्रकार संसार में राज्य और राजा की उत्पत्ति हुई। आंशिक रूप से यह राज्य की दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत था।

महाकाव्य भी राजतंत्र को ही प्रमुख शासन तंत्र मानते हैं। महाभारत का कथन है कि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में जो धर्म-समन्वित हो उसी को राजा समझना चाहिए। उसका ध्येय प्रजा का हित होना चाहिए। धर्म राजा के ऊपर सबसे बड़ा अंकुश था। राजा को न्याय और नैतिकता के सिद्धांतों पर चलना पड़ता था। अत्याचारी राजा को लोगों द्वारा पदच्युत किया जा सकता था। राजा पर मंत्री परिषद का भी अंकुश था। राज्याभिषेक के समय राजा को प्रजा का धर्मपूर्वक पालन करने की प्रतिज्ञा लेनी पड़ती थी।

राजा महत्वपूर्ण कार्यों के लिए मंत्री परिषद पर निर्भर रहता था। प्रत्येक महत्वपूर्ण विषय इसके समक्ष रखे जाते थे, परंतु कुछ विषय अत्यंत गुप्त और गंभीर होते थे। महाभारत में आठ मंत्रियों की आवश्यकता की चर्चा की गई है। मंत्री परिषद के अमात्यों की संख्या अधिक होती थी, वे महत्वपूर्ण राजकीय विषयों पर राजा

को सलाह देते थे। रामायण में भी मंत्री परिषद की आवश्यकता पर बल दिया गया है। देश में राज-पुरोहित विशेष परामर्शदाता होता था।

प्रशासन संचालन के लिए राजा के अधीन अनेक उच्च अधिकारी होते थे। रामायण में इनकी संख्या अठारह मिलती है, संयोग से महाभारत में भी प्रमुख पदाधिकारियों की संख्या अठारह बताई गई है, जिनमें प्रमुख होते थे— मंत्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, न्यायाधीश, नगराध्यक्ष, कारागाराधिकारी।

राजा के पास एक संगठित सेना होती थी, जो देश की रक्षा करती थी। सेना में पैदल, अश्वारोही, गजारोही, रथी होते थे। राजा सर्वोच्च सेनापति होता था एवं युद्ध में नेतृत्व करता था। इस समय का रणविधान बहुत नैतिक होता था।

राजतंत्र के अतिरिक्त महाकाव्य गणतंत्र का भी उल्लेख करते हैं। ये दो प्रकार के थे, कुछ तो अकेले गणतंत्र थे और कुछ गणतंत्रों के समूह थे।

2.4.5. सामाजिक अवस्था

महाकाव्यकालीन समाज में वर्ण-व्यवस्था प्रतिष्ठित थी। ब्राह्मणों की उत्कृष्टता की भावना स्वीकार कर ली गई थी। समाज को चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) में विभक्त करके उनके संबंध में यह विचार विकसित हो गया था कि समाज का कल्याण इसी में है कि सब लोग अपने धर्म (कार्य) में स्थिर रहें, परंतु महाभारत में यह भी विचार मिलता है कि चारों वर्णों की सृष्टि गुण और कर्म के अनुसार ही की गई है। कुछ लोग अपने वर्ण के कर्म से विमुख होने पर भी उच्च स्थिति प्राप्त कर लेते थे। वर्ण व्यवस्था का जो विकृत रूप बाद के इतिहास में देखने को मिलता है, उसका सूत्रपात इस युग में हो गया था। महाभारत में अनेक स्थानों पर दास-दासियों का भी उल्लेख मिलता है।

रामायण और महाभारत में स्त्रियों की स्थिति के विषय में अनेक विचार मिलते हैं। राजा दशरथ की तीन पत्नियाँ होने से यह पता चलता है कि इस युग में बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। महाभारत की कथा में द्रौपदी के पाँच पति थे।

2.4.5.1. विवाहों के प्रकार

महाभारत व उत्तरवैदिक युग के अन्य साहित्य में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख मिलता है—

ब्रह्म विवाह— जब पिता अपनी कन्या को वस्त्र एवं आभूषणों से सुसज्जित कर किसी योग्य वर को प्रदान करें, तो इस प्रकार के विवाह को 'ब्रह्म विवाह ' कहा जाता था।

दैव विवाह— यज्ञ कराने वाले पुरोहित को अलंकार आदि से विभूषित कन्या प्रदान करके जो विवाह किया जाता था, उसे 'दैव विवाह' कहा जाता था।

प्रजापत्य विवाह— जब वर और कन्या का विवाह प्रजापत्य धर्म की वृद्धि (संतोनोपत्ति) के लिए किया जाए, पिता इसी उद्देश्य से कन्या दान करे, तो 'प्रजापत्य विवाह' कहा जाता था। वस्तुतः ब्रह्म और प्रजापत्य में कोई अंतर नहीं है।

आर्श विवाह— इसमें वर की ओर से कन्या को गौ आदि भेंट में देनी होती थी। वधू की प्राप्ति के लिए वर कन्या-पक्ष को दक्षिणा देता था।

गंधर्व विवाह— परस्पर स्वच्छंद प्रेम के कारण वर और कन्या अपनी इच्छा से जो विवाह करते थे, उसे 'गंधर्व विवाह' कहते थे।

असुर विवाह— कन्यापक्ष को भरपूर धन देकर संतुष्ट कर कन्या प्राप्त करके जो विवाह होता था, उसे 'असुर विवाह' कहा जाता था।

राक्षस विवाह— कन्या का जबर्दस्ती अपहरण कर जो विवाह होता था, 'राक्षस विवाह' कहलाता था।

पैशाच विवाह— बेहोश, रोती हुई अथवा पागल कन्या के साथ समागम किया जाता था एवं इस प्रकार के विवाह को 'पैशाच विवाह' कहते थे।

आठ विवाह प्रकारों में ब्रह्म, दैव, आर्श और प्रजापत्य को धर्म माना जाता था। कुछ गंधर्व को भी धर्म एवं कुछ अधर्म मानते थे। शेष तीन विवाह प्रकार— असुर, राक्षस और पैशाच अधर्म माने जाते थे।

इस काल में नियोग प्रथा प्रचलित थी। कुछ सूत्रकारों के अनुसार विधवा स्त्री पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से अपने देवर के साथ संबंध स्थापित कर सकती थी। महाभारत में नियोग के अनेक दृष्टांत मिलते हैं। पांडवों की माता कुंती ने युधिष्ठिर एवं अन्य पुत्रों को नियोग द्वारा ही जन्म दिया था।

स्त्रियों की स्थिति संतोषजनक थी। उसे पुनर्विवाह और संबंध विच्छेद का भी अधिकार था। पर्दा प्रथा न होने के कारण वह धार्मिक और सार्वजनिक कार्यों में अपने पति का सहयोग दे सकती थी। वह वेदाध्ययन की अधिकारिणी भी थी।

इस काल में शिक्षा दो प्रकार से होती थी— गुरुकुलों में अथवा घर पर रखे गए आचार्यों द्वारा। रामायण में भारद्वाज एवं वाल्मीकि के आश्रमों के बारे में उल्लेख किया गया है। महाभारत में मारकंडेय और कण्व के आश्रमों का वर्णन मिलता है। इन आश्रमों में शिष्य गुरु के निरीक्षण में अपनी बौद्धिक उन्नति करते थे। दूसरी शिक्षा प्रणाली के अंतर्गत द्रोणाचार्य हस्तिनापुर में रहकर कौरव और पांडव राजकुमारों को धनुर्विद्या सिखाते थे। इस काल में वैदिक शिक्षा का विशेष महत्व था।

2.4.6. आर्थिक अवस्था

महाकाव्यों से कृषि कर्म पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। कृषि और पशु पालन इस काल में भी मुख्य व्यवसाय थे। इस काल में कृषि कर्म हल की सहायता से होता था। रामायण के वर्णन के अनुसार राजा जनक को खेत में सीता प्राप्त हुई थी। हल लकड़ी का होता था और उसका फाल लोहे का। कृषि के अन्य उपकरणों जैसे कुदाल, हँसिया आदि की भी महाकाव्यों में चर्चा मिलती है। कृषकों को उपज का 1/10 से लेकर 1/6 भाग तक देना पड़ता था। इस काल में पशुओं के स्वभाव, गुणों, रोगों और विशेषताओं के बारे में भी ज्ञान था।

कृषि और पशु पालन के अतिरिक्त समाज में अन्य व्यवसाय भी थे। तंतुवाय और कंबलकार सूती और ऊनी वस्त्रों का भी व्यवसाय करते थे। स्वर्णकार और मणिकार विविध आभूषणों का निर्माण करते थे। इसके अतिरिक्त महाकाव्यों में लोहकार, कुंभकार, चर्मकार, वैद्य, मालाकार, रजक आदि अनेक अन्य व्यवसायियों का उल्लेख मिलता है। इस समय अधिकांश व्यवसायी श्रेणियों में संगठित थे। इन श्रेणियों के अध्यक्ष को 'मुख्य' कहते थे। ग्राम या गाँव अब भी आर्थिक व्यवस्था की प्रमुख इकाइयाँ थे। देशी और विदेशी व्यापार की भी चर्चा महाकाव्यों में की गई है। साधारण लोग सूती कपड़े ही पहनते थे, परंतु रेशमी और ऊनी वस्त्र भी बुने जाते थे। लोगों को कढ़ाई और रंगाई का ज्ञान भी था। राज्य की ओर से व्यवसायियों तथा शिल्पियों की सहायता की जाती थी।

2.4.7. धार्मिक अवस्था

इस युग में कुछ महत्वपूर्ण धार्मिक परिवर्तन हुए। वैदिक देवताओं का स्थान मुख्य तौर पर ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने ले लिया। इस प्रकार इसी युग में त्रिमूर्ति का उत्कर्ष हुआ। नई देवियों में दुर्गा, पार्वती आदि की भी आराधना आरंभ हो गई। गणेश की पूजा भी होने लगी। इस युग ने वीर पुरुषों को देवता के पद पर प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार राम और कृष्ण को अवतार मानकर उनकी पूजा होने लगी। अब आर्यों में यह धारणा उत्पन्न हुई कि जब अन्याय और अनाचार में वृद्धि होती है तब विष्णु मानव का रूप धारण करके पृथ्वी पर अवतरित होते हैं और मानव समाज को अत्याचारियों से मुक्त करते हैं।

धार्मिक दृष्टि से महाकाव्य काल भक्ति प्रधान था। भागवत धर्म से संबंध रखने वाले अनेक उपाख्यान महाभारत में विद्यमान हैं, पर उसका उत्कृष्ट रूप गीता में मिलता है। गीता का उपदेश कृष्ण ने कुरुक्षेत्र में अर्जुन को दिया था। कृष्ण ने कहा है कि मोक्ष और मुक्ति की प्राप्ति कर्म के आधार पर होती है। गीता में जहाँ निष्काम-कर्म और स्वधर्म पर जोर दिया गया है, वहाँ साथ ही भक्ति की भी बहुत महिमा बताई गई है। याज्ञिक कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए गीता में यज्ञ का नया स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। गीता की सम्मति में तपोयज्ञ, स्वाध्याय-यज्ञ, ज्ञान-यज्ञ आदि ही वास्तविक यज्ञ हैं। इनके अनुष्ठान के लिए विधि-विधानों की आवश्यकता नहीं। ज्ञान प्राप्ति स्वाध्याय, चरित्र-शुद्धि और संयम द्वारा ही इस यज्ञ का अनुष्ठान होता है।

कोई भी व्यक्ति चाहे किसी भी जाति या वर्ण का क्यों न हो, अच्छे कर्म करके तथा आत्मसंयम रखकर धीरे-धीरे ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। इस काल में भागवत धर्म की प्रधानता बढ़ने लगी थी।

इस युग में बलि देने का प्रचलन था, जिसमें पशुओं के साथ-साथ मनुष्य की बलि भी दी जाती थी। इस युग में धीरे-धीरे अहिंसा धर्म का विकास होने लगा था।

महाकाव्य काल विज्ञान तथा दर्शन के क्षेत्र में उन्नति का काल था। कर्मवाद, अवतारवाद, भक्ति मार्ग आदि सिद्धांतों की व्याख्या इस समय की गई। इस काल में विज्ञान में भी काफी उन्नति हुई। ज्योतिष विद्या में अनेक नए-नए ग्रहों का पता लगाया गया था। मनुस्मृति के द्वारा इस काल में मनुष्यों को जीवन व्यतीत करने के अनेक नियमों पर प्रकाश डाला गया था। मनुष्यों, पशुओं एवं पक्षियों के लिए औषधियों का निर्माण किया गया था। इस काल में भवन निर्माण कला में उन्नति हुई थी।

2.4.8. सारांश

भारत के प्राचीन इतिहास के काल में रामायण तथा महाभारत महाकाव्यों के रचनाकाल को महाकाव्य युग के नाम से जाना जाता है। महर्षि वाल्मीकि ने रामायण तथा महर्षि व्यास ने महाभारत की रचना की थी। रचनाकाल के अनुसार रामायण अधिक प्राचीन है। महाभारत में समय-समय पर संशोधन किया गया है। रामायण की कथा रामचंद्र एवं रावण के युद्ध पर आधारित है। 'शतसाहस्त्री संहिता' महाभारत भारतीय ज्ञान का विश्वकोश है। इसमें राज्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत की चर्चा की गई है। महाकाव्य राजतंत्र को ही प्रमुख शासन तंत्र मानते हैं। राज्य का प्रमुख राजा था, जो शासन के लिए अनेक अधिकारियों को अपने अधीन रखता था। समाज में वर्ण-व्यवस्था प्रतिष्ठित थी। महाभारत में आठ प्रकार के विवाहों की चर्चा मिलती है। इस काल में वैदिक शिक्षा महत्वपूर्ण थी। कृषि और पशुपालन इस काल के मुख्य व्यवसाय थे। इसके

अतिरिक्त समाज में अन्य शिल्प, व्यवसाय विकसित थे। इसी काल में त्रिमूर्ति— ब्रह्मा, विष्णु, महेश का उत्कर्ष हुआ। यह काल भक्ति प्रधान था। इस काल में विज्ञान तथा दर्शन के क्षेत्र में भी उन्नति हुई थी।

2.4.9. बोध प्रश्न

1. महाकाव्य काल से आप क्या समझते हैं? रामायण और महाभारत के ऐतिहासिक महत्व का वर्णन कीजिए।
2. महाकाव्य काल के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।
3. रामायण और महाभारत के ऐतिहासिक महत्व को बताते हुए इस काल के राजनीतिक एवं सामाजिक अवस्था की चर्चा कीजिए।

2.4.10. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1. ओझा, श्रीकृष्ण. (1987). *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास*. जयपुर : रिसर्च पब्लिकेशन्स।
2. पाण्डेय, विमल चन्द्र. (2002). *प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास (भाग-1)*. इलाहाबाद : सेंट्रल पब्लिशिंग हाउस।
3. वर्मा, दीनानाथ. (2002). *प्राचीन भारत*. नई दिल्ली : ज्ञानदा प्रकाशन।
4. त्रिपाठी, रमाशंकर, प्राचीन भारत
5. झा, द्विजेन्द्रनाथ एवं श्रीमाली, प्राचीन भारत

खंड - 3 : छठी शताब्दी ईसा पूर्व में धार्मिक आंदोलन
इकाई - 1 : छठी शताब्दी ईसा पूर्व में सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थिति

इकाई की रूपरेखा

3.1.1. उद्देश्य
3.1.2. प्रस्तावना
3.1.3. सामाजिक परिस्थिति
3.1.3.1. वर्ण व्यवस्था
3.1.3.2. स्त्रियों की स्थिति
3.1.3.3. विवाह का स्वरूप
3.1.3.4. शिक्षा
3.1.4. आर्थिक परिस्थिति
3.1.4.1. नगर और ग्राम
3.1.4.2. व्यवसाय
3.1.4.3. व्यापार
3.1.4.4. अर्थ नीति
3.1.5. सारांश
3.1.6. बोध प्रश्न
3.1.7. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

3.1.1. उद्देश्य

ई.पू. छठी शताब्दी में युग प्रवर्तकों का जन्म हुआ, नवीन धर्मों की स्थापना हुई। भारतवर्ष में दो युग पुरुषों — महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी का प्रादुर्भाव हुआ। इस काल में सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ कैसी थीं, इस पर प्रकाश डालना ही इस इकाई का उद्देश्य है।

3.1.2. प्रस्तावना

ई.पू. छठी शताब्दी को धार्मिक सुधारना का युग माना जाता है। भारतीय इतिहास का यह काल बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस युग की सामाजिक एवं आर्थिक अवस्थाओं पर प्राचीन बौद्ध साहित्य से काफी प्रकाश पड़ता है। इस काल की ऐतिहासिक जानकारी के लिए प्रचुर सामग्री बौद्ध जातक कथाएँ, त्रिपिटकों एवं जैन ग्रंथों के रूप में सुरक्षित हैं। उत्तरवैदिक युग में समाज का सामान्य वर्ग जिस अवस्था में जीवन-यापन कर रहा था, वही स्थिति बुद्ध के समय में भी विद्यमान थी। इसका मुख्य कारण था कि यह युग उत्तरवैदिक काल से संपृक्त ही था। अतः मुख्य तौर पर समाज की समस्त परिस्थितियाँ लगभग एक प्रकार की ही थीं। अंतर केवल इतना ही है कि सामाजिक स्थिति के बारे में बौद्ध वाङ्मय से अतिरिक्त सूचनाएँ प्राप्त होती है। बौद्धकालीन संस्कृति देश की पुरातन धारा— श्रमण-धारा का प्रतिनिधित्व करती है। इसके पूर्व की वैदिक संस्कृति ब्राह्मण धारा की प्रतिनिधिभूता है। वैसे कोई भी संस्कृति अपने आदर्शभूत तत्वों एवं उद्देश्यों को संजोते हुए ही आगे

बढ़ती है। प्राचीन तत्वों में नवीन तत्वों को मिलाते हुए आगे बढ़ती है, इस कारण दोनों तत्व घुल मिल जाते हैं। इस दृष्टि से ई.पू. छठी शताब्दी की संस्कृति में भी उत्तरवैदिक कालीन संस्कृति के विशिष्ट अवशेष विद्यमान हैं, अतः सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था में भी कुछ तत्व समान प्रतीत होते हैं।

3.1.3. सामाजिक परिस्थिति

प्राचीन भारतीय सामाजिक जीवन का मूल तत्व वर्णाश्रम व्यवस्था थी। प्राचीन विचारकों ने समाज को चार वर्णों में विभक्त किया था। ई.पू. छठी शताब्दी में भी वर्ण व्यवस्था थी, जिस पर बौद्ध साहित्य से प्रकाश पड़ता है।

3.1.3.1. वर्ण व्यवस्था – छठी शताब्दी ई.पू. में बौद्धकालीन समाज में वर्ण व्यवस्था ऊँच-नीच की भावना से ग्रस्त होकर समाज को जर्जर कर रही थी। बुद्ध के प्रादुर्भाव के समय तक वर्ण व्यवस्था विकृत हो चुकी थी। बुद्ध साहित्य में इसकी कड़ी आलोचना की गई है, जन्म के स्थान पर कर्म को महत्व दिया गया है और सामाजिक ऊँच-नीच के विरुद्ध आवाज उठाई गई है। आचार-विचार तथा सात्विक नैतिक जीवन को आधार माना गया। उस काल में ब्राह्मणों और क्षत्रियों में सामाजिक स्थिति के संबंध में प्रतिद्वंद्विता का भी प्रारंभ हो गया था। बौद्ध धर्म का प्रारंभ पूर्वी भारत में हुआ था। बुद्ध के अनुसार जन्म से न कोई ब्राह्मण होता है और न कोई चाण्डाल। कर्म के आधार पर ही किसी को ब्राह्मण या चाण्डाल कहना उचित है। बुद्ध के मतानुसार केवल ब्राह्मण ही स्वर्ग के अधिकारी नहीं होते, अपितु पुण्य कर्मों द्वारा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी स्वर्ग को प्राप्त कर सकते हैं। बुद्ध द्वारा ब्राह्मणों की सर्वोच्च स्थिति के विरुद्ध आवाज उठाने का एक कारण यह भी था कि उस समय ऐसे ब्राह्मण भी थे, जो धर्म विरुद्ध कार्यों में लिप्त रहने लगे थे।

इस युग में ब्राह्मण की प्रतिष्ठा और सम्मान को बहुत आघात लगा, उनकी परंपरागत श्रेष्ठता को चुनौती दी गई। यह भी माना गया कि किसी विशेष कर्म पर किसी विशेष वर्ण का एकाधिकार नहीं है। क्षत्रिय वर्ग का समाज में दूसरा स्थान रहा है, किंतु बौद्ध युग में उसने अपना प्रमुख स्थान बना लिया था। बुद्ध और महावीर जैसे बौद्धिक नेताओं के इसी वर्ण में जन्म लेने के कारण शक्ति प्रदर्शन के कार्यों के साथ क्षत्रिय वर्ग ने अपने को विद्या और शिक्षा के क्षेत्र से भी जोड़ लिया।

वैश्य वर्ण अत्यंत समृद्ध और संपन्न वर्ग था। यह धनी वर्ग समय-समय पर राजाओं की भी सहायता करता था। शूद्र की अवस्था दयनीय ही रही। समाज का इन पर अनेक प्रकार का अंकुश और नियंत्रण था तथा ये अधिकारविहीन व सम्मानहीन थे। जैन साहित्य द्वारा भी ज्ञात होता है कि महावीर ने भी जन्म की तुलना में कर्म को महत्व दिया।

3.1.3.2. स्त्रियों की स्थिति – बौद्ध ग्रंथों से छठी शताब्दी ई.पू. के समाज में स्त्रियों की स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है। सच्चरित्र स्त्री का समाज में मान होता था, घर में स्त्रियों का आदर था, पर्दा प्रथा नहीं थी, परंतु फिर भी स्त्रियों को समानता का स्तर प्राप्त नहीं था। प्रारंभ में गौतम बुद्ध ने स्त्रियों को संघ प्रवेश की आज्ञा नहीं दी थी। बाद में अपने प्रिय शिष्य आनंद के बहुत अनुनय विनय के बाद उन्होंने यह आज्ञा दे दी थी, परंतु इसके साथ ही उन्होंने संघ में प्रवेश करने के लिए स्त्रियों पर आठ प्रतिबंध भी लगा दिए थे। इन प्रतिबंधों के कारण स्त्रियों का संघ जीवन बहुत कष्टदायक हो गया, साथ ही उनका स्थान भी निम्न था। इस पर भी बुद्ध ने कहा था, "आनंद, अब जब स्त्रियों का प्रवेश संघ में हो गया, धर्म चिरस्थायी नहीं रह सकेगा।" इसके साथ ही बौद्ध

साहित्य में अनेक सुयोग्य और सुशिक्षित स्त्रियों के भी उदाहरण मिलते हैं। जैन ग्रंथों में भी विदुशी स्त्रियों का उल्लेख है।

3.1.3.3. विवाह का स्वरूप – छठी शताब्दी ई.पू. में बौद्ध साहित्य समकालीन विवाह संस्था के स्वरूपों पर प्रकाश डालता है। विवाह के आठ प्रकारों में सबसे अधिक लोक-प्रतिष्ठित प्रकार प्रजापत्य विवाह का था। इसमें विवाह माता-पिता द्वारा नियोजित होता था, परंतु स्वयंवर तथा गन्धर्व विवाहों के भी अनेक उदाहरण बौद्ध साहित्य में मिलते हैं। इन्हें भी धर्मानुकूल माना जाता था। वत्स नरेश उदयन का अवन्ति नरेश प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता के साथ गन्धर्व विवाह का उल्लेख मिलता है। इस काल में सजातीय विवाहों की ही प्रधानता थी, परंतु यदा-कदा अंतर्जातीय विवाह के उदाहरण मिलते हैं। कोसल के राजा प्रसेनजीत ने श्रावस्ती के माली की कन्या मल्लिका से वैवाहिक संबंध स्थापित किया था। बाल-विवाह की प्रथा उस समय प्रचलित नहीं थी, कन्याओं का विवाह सामान्यतया सोलह वर्ष की आयु में किया जाता था। इस काल के विवाहों में दहेज की प्रथा भी प्रचलित थी। धम्मपद में एक उदाहरण मिलता है, जिसमें श्रावस्ती के श्रेष्ठी निगार ने अपनी कन्या के विवाह के अवसर पर अपार संपत्ति दहेज के रूप में दी थी। इस काल में बहुविवाह की प्रथा का भी प्रचलन था।

3.1.3.4. शिक्षा – छठी शताब्दी ई.पू. की शिक्षा के विषय में अनेक ग्रंथ प्रकाश डालते हैं। बौद्ध भिक्षुओं के शिक्षा केंद्र विहार थे, जहाँ अध्ययन, अध्यापन, मनन, पाठ आदि चलता था। उस समय तक्षशिला और काशी जैसे नगरों में बहुत से शिक्षा केंद्र या विद्यापीठ भी विकसित हो गए थे, जिनमें विश्वविख्यात आचार्य कतिपय विशिष्ट विषयों की उच्च शिक्षा दिया करते थे। इन आचार्यों की विद्वता से आकृष्ट होकर दूर-दूर के प्रदेशों से विद्यार्थी उनके पास विद्याध्ययन के लिए आया करते थे। जातकों से ज्ञात होता है कि तक्षशिला में चिकित्साशास्त्र, धनुर्विद्या, राजविद्या, पशुभाषा ज्ञान, आखेट तथा अनेक शिल्पादि की शिक्षा दी जाती थी। ब्राह्मणों, क्षत्रियों और राजकुमारों की पृथक-पृथक शिक्षा-संस्थाएँ होती थीं। प्रसिद्ध शिक्षा-केंद्रों में अध्ययन करने वाले विद्यार्थी अधिकांशत: ब्राह्मण और क्षत्रिय ही होते थे। वैश्य विद्यार्थियों की संख्या कम थी।

3.1.4. आर्थिक परिस्थिति

छठी शताब्दी ई.पू. में भारत में बौद्ध और जैन धर्मों का प्रादुर्भाव एवं प्रसार हुआ था। बौद्ध और जैन साहित्य अत्यंत विशाल है। इन साहित्यों में कहीं कहीं ऐसे निर्देश हैं, जिनसे भारत की आर्थिक दशा पर प्रकाश पड़ता है। पाणिनि के अष्टाध्यायी का भी रचनाकाल छठी या पाँचवी शताब्दी ई.पू. माना जाता है, अतः आर्थिक जीवन की जानकारी के लिए भी इस ग्रंथ का सहारा लिया जाता है।

3.1.4.1 नगर और ग्राम – बौद्धकालीन भारत अर्थात् छठी शताब्दी ई.पू. में नागरिक जीवन विकसित हो चुका था। बौद्ध ग्रंथ नगर तथा ग्राम संगठन पर प्रकाश डालते हैं, उनसे पता चलता है कि बुद्धकाल में आबादी का अधिकांश भाग गाँव में ही रहता था। यहाँ मकानों में सम्मिलित परिवार रहते थे, मकानों के अतिरिक्त गाँवों में खेत होते थे, जो कि व्यक्तिगत संपत्ति होते थे। प्रत्येक ग्राम प्रायः आत्मनिर्भर होते थे। सहकारिता और वस्तुविनिमय के आधार पर जीवन-यापन होता था। ग्राम के समीप के वनों, चरागाहों पर सामूहिक स्वत्व

होता था। ग्रामीण अर्थनीति भूमि के स्वतंत्र स्वत्व पर आधारित थी। इस युग में बहुसंख्यक किसान ऐसे थे, जो अपने खेतों में स्वयं या कुछ वेतनभोगी कर्मकरों की सहायता से खेती किया करते थे। किसान अपना कर उपज के छठे भाग से बारहवें भाग तक गाँव के मुखिया (ग्राम भोजक) द्वारा राजा को प्रदान करते थे। ग्राम भोजक गाँव के शासन की देखरेख करता था।

बौद्ध ग्रंथों में बहुत कम नगरों का उल्लेख मिलता है। दीघनिकाय में 6 नगरों का उल्लेख मिलता है— चंपा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशांबी व वाराणसी। इनके अतिरिक्त बौद्ध साहित्य मिथिला, वैशाली, पाटलिपुत्र, उज्जैन, साकल, पैठान और महिष्मती आदि नगरों का उल्लेख करता है। जैन ग्रंथों में भी अनेक नगरों के नाम आए हैं। बौद्ध और जैन साहित्य में चर्चा किए जाने वाले नगरों के अतिरिक्त भी नगर अवश्य रहे होंगे।

उस समय के नगर प्रायः दुर्गरूप से बनाए जाते थे। दुर्ग में राजप्रसाद, राज्य संबंधी इमारतें, बाजार तथा प्रमुख मनुष्यों के निवास-स्थान रहते थे। इन नगरों की निर्माण-योजना बड़े ढंग से बनाई जाती थी। मकान बनाने के लिए पत्थर, ईंट और लकड़ी तीनों का प्रयोग होता था। नगरों में बहुधा मकान कई मंजिल ऊँचे होते थे। बड़े मकानों में स्तंभ, वातायन, नालियाँ, कुएँ, पाकशाला, स्नानगृह तथा शौचालय आदि की पृथक-पृथक व्यवस्था होती थी। नगरों में लोग समृद्धि, सुख और विलास का जीवन भी बिताते थे।

3.1.4.2 व्यवसाय – लोगों का मुख्य पेशा खेती करना था, साथ ही विभिन्न प्रकार के उद्योग-धंधे विकसित होने के कारण अनेक व्यवसाय प्रचलित थे। कपड़े का व्यवसाय इस काल में काफी समृद्ध था। वाराणसी में रेशमी कपड़ों का तथा गंधार में ऊनी कपड़े का व्यवसाय समृद्ध था। स्त्री और पुरुष दोनों आभूषण प्रेमी थे, अतः आभूषण व्यवसाय भी उन्नत था। काष्ठकार गाड़ी, रथ आदि बनाते थे। वास्तुकला भी उन्नत दशा में थी। बढ़ई, कर्मार, दस्तकार, जौहरी, नलकार, रंगरेज, कसाई, मछुए, माली, नाई आदि अनेक प्रकार के पेशा करने वाले लोग थे। बौद्ध साहित्य इन व्यवसायों का भी वर्णन करता है जैसे – वैद्य, ज्योतिषी, नट, नापित, रजक, शिकारी, बूचड़, नाविक, गायक, लेखक, पुरोहित आदि।

इस काल के व्यवसायी लोग 'श्रेणियों' में संगठित थे, इस बात के अनेक प्रमाण बौद्ध-साहित्य में मिलते हैं। प्रत्येक श्रेणी के अपने नियम थे, जिन्हें राज्य भी मानता था। उरग जातक के अनुसार 'श्रेणी' के मुखिया को 'प्रमुख' कहते थे। अन्य साहित्यों में श्रेणी के मुखिया के लिए 'जेट्ठक' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध साहित्य में श्रेणियों के स्वरूप पर विस्तार से कुछ नहीं लिखा गया है, परंतु उसमें की गई चर्चा के आधार पर इनकी सत्ता के संबंध में कोई संदेह नहीं किया जा सकता है। कच्चे माल की खरीद, तैयार माल की बिक्री, काम के घंटे और मजदूरी निश्चित करना, मिलावट रोकना, आदि सभी काम ये श्रेणियाँ करती थीं। ये श्रेणियाँ उस काल के समाज संगठन की आधारशिला थीं।

3.1.4.3. व्यापार – छठी शताब्दी ई.पू. के व्यापार के संबंध में जातक ग्रंथों से एवं अन्य बौद्ध साहित्यों से उल्लेख उपलब्ध होते हैं। इस काल में देश के प्रमुख व्यापारिक केंद्र मार्गों द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए थे। भारत का आंतरिक और बाह्य दोनों ही व्यापार उन्नत दशा में था, अतः जल तथा स्थल दोनों ही मार्गों को व्यापार के लिए प्रयोग में लाया जाता था। व्यापार करने वाले वणिक् विविध प्रकार के पदार्थों को लेकर देश-विदेश में क्रय-विक्रय किया करते थे। विलास की वस्तुओं से लाभ अधिक होता था, अतः उन वस्तुओं का व्यापार

अधिक होता था। उत्तरी तथा दक्षिणी भारत में व्यापार के कई प्रमुख मार्ग थे। एक मार्ग श्रावस्ती से प्रतिष्ठान (आधुनिक हैदराबाद) जाता था, श्रावस्ती से राजगृह के लिए भी एक मार्ग था, तीसरा मार्ग श्रावस्ती से तक्षशिला को जाता था। इन मार्गों के अतिरिक्त भी व्यापार के अन्य महत्वपूर्ण मार्ग भी इस काल में विद्यमान थे। इस काल के व्यापारी सुदूरवर्ती प्रदेशों में भी व्यापार के लिए जाया करते थे। विदेशों से भी व्यापार होता था। व्यापारी बर्मा, लंका आदि को जाया करते थे। इस देशी तथा विदेशी व्यापार के कारण भारतवर्ष के नगरों की समृद्धि दिन प्रति दिन बढ़ रही थी। नगरों में आने वाले माल पर चुंगी वसूले जाने की व्यवस्था भी थी।

3.1.4.4. अर्थ नीति – ई.पू. छठी शताब्दी का काल अर्थ नीति का काल है। इस समय तक आते-आते वस्तु-विनिमय की पद्धति व्यापार एवं व्यवसाय के लिए अनुपयुक्त हो गई, अतः मुद्रा का प्रचार बढ़ा। बौद्ध साहित्य से मुद्रा पद्धति के संबंध में अनेक उपयोगी बातें ज्ञात होती है। उस समय का मुख्य सिक्का 'कार्षापण' होता था। इसके अतिरिक्त निष्क, सुवर्ण और धरण नाम के सिक्कों का भी इस काल में प्रचलन था। यद्यपि मुख्यतया कार्षापण (Karshapan) ताँबे के होते थे, परंतु सोने और चाँदी के भी कार्षापण होते थे। विनिमय की सुगमता के लिए इस काल में अर्द्ध कार्षापण, पादकार्षपण आदि अन्य सिक्के भी होते थे। विविध वस्तुओं की कीमतों के संबंध में भी इस काल के साहित्यों में निर्देश मिलते हैं। पशुओं की कीमतें भी भिन्न-भिन्न होती थीं। उस समय वेतन तथा भृति के दर की चर्चा भी इस काल के साहित्यों में की गई है।

3.1.5. सारांश

छठी शताब्दी ई.पू. में धार्मिक आंदोलनों का युग प्राचीन भारत में माना जाता रहा है। इस काल में मानसिक चिंतन के आधार पर विचारों की स्वतंत्रता प्रारंभ हुई। इस समय की सामाजिक परिस्थिति ने भी तत्कालीन विचारधारा को प्रभावित किया। वर्ण व्यवस्था कठोर हो चुकी थी। ब्राह्मण-क्षत्रिय समाज में उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित थे। वैश्य वर्ण संपन्न स्थिति में तथा शूद्र दयनीय स्थिति में थे। स्त्रियों की स्थिति सामान्य थी, विदूषी स्त्रियों का भी उल्लेख मिलता है। शिक्षा के केंद्र विकसित हो चुके थे, जहाँ अलग-अलग विषयों की शिक्षा दी जाती थी। इस काल के ग्रंथों में आर्थिक स्थिति पर भी प्रकाश डाला गया है। नागरिक जीवन पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था, परंतु आबादी का अधिकांश प्रतिशत अभी भी गाँवों में रहता था। मुख्य पेशा कृषि था, परंतु उद्योग-धंधों के विकसित होने के कारण अनेक व्यवसाय प्रचलित थे। देश के प्रमुख व्यापारिक केंद्र एक दूसरे से जुड़े थे। वस्तु विनिमय प्रणाली के साथ मुद्रा का प्रचार भी बढ़ गया था।

3.1.6. बोध प्रश्न

1. छठी शताब्दी ई.पू. काल की राजनीतिक व आर्थिक परिस्थिति पर प्रकाश डालिए।
2. 'ई.पू. छठी शताब्दी बौद्धिक क्रांति का काल था।' इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

3.1.7. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1. वर्मा, दीनानाथ. (2002). *प्राचीन भारत.* नई दिल्ली : ज्ञानदा प्रकाशन।
2. पाण्डेय, विमल चन्द्र. (2002). *प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास (भाग-1).* इलाहाबाद: सेंट्रल पब्लिशिंग हाउस।
3. ओझा, श्रीकृष्ण. (1987). *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास.* जयपुर : रिसर्च पब्लिकेशन।
4. विद्यालंकार, सत्यकेतु. (1987). *प्राचीन भारत.* नई दिल्ली : श्री सरस्वती सदन।
5. शर्मा, रामशरण, प्रारंभिक भारत का परिचय

खंड - 3 : छठी शताब्दी ई.पू. में धार्मिक आंदोलन
इकाई - 2 : महावीर एवं जैन धर्म

इकाई की रूपरेखा

3.2.1. उद्देश्य

3.2.2. प्रस्तावना

3.2.3. महावीर स्वामी की जीवनी

3.2.4. जैन धर्म के सिद्धांत

3.2.4.1. तत्व

3.2.4.3.1.1. जीव

3.2.4.3.1.2. अजीव

3.2.4.3.1.3. आस्त्रव

3.2.4.3.1.4. बंध

3.2.4.3.1.5. संवर

3.2.4.3.1.6. निर्जरा

3.2.4.3.1.7. मोक्ष

3.2.4.2. पंच अणुव्रत

3.2.4.3. सात शीलव्रत

3.2.4.4. पंच महाव्रत

3.2.4.5. त्रिरत्न कर्म और पुनर्जन्म

3.2.4.6. अनेकात्मवाद

3.2.4.7. द्वैतवाद

3.2.4.8. स्यादवाद

3.2.4.9. ईश्वर और सृष्टि

3.2.4.10. अहिंसा

3.2.4.11. काया क्लेश

3.2.4.12. श्वेतांबर और दिगंबर

3.2.5. जैन धर्म की सांस्कृतिक देन

3.2.5.1. सामाजिक क्षेत्र में

3.2.5.2. भाषा व साहित्य के क्षेत्र में

3.2.5.3. दार्शनिक क्षेत्र में

3.2.5.4. कला के क्षेत्र में

3.2.6. सारांश

3.2.7. बोध प्रश्न

3.2.8. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

3.2.1. उद्देश्य

ई.पू. छठी शताब्दी में बौद्ध धर्म का ही समकालीन जैन धर्म भी प्रसारित हुआ। इसकी स्थापना सदियों पूर्व हो चुकी थी। महावीर ने इस धर्म को प्रचारित व प्रसारित किया। जैन धर्म को भली-भाँति समझना इस इकाई का उद्देश्य है।

3.2.2. प्रस्तावना

ई.पू. छठी शताब्दी में उत्तरपूर्वी भारत में अनेक धार्मिक संप्रदायों का उदय हुआ। अनेक दर्शनों के प्रादुर्भाव ने बौद्धिक आंदोलन का रूप ग्रहण किया। इनमें दो प्रमुख हैं — (1) जैन धर्म (2) बौद्ध धर्म। इन दोनों ने भारतीय संस्कृति को अत्यधिक प्रभावित किया। जैन मान्यता के अनुसार यह धर्म अत्यंत प्राचीन है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि यह धर्म पूर्व ऐतिहासिक है। वे इसे मोहनजोदड़ो में प्राप्त योगी की मूर्ति के साथ जोड़ते हैं। कुछ विद्वान ऋग्वेद में उल्लिखित तपस्वियों और जैन श्रमणों में संबंध स्थापना करते हैं। वैसे इस बात में तो संदेह नहीं कि भारतवर्ष में श्रमण विचारधारा अति प्राचीन है, परंतु इसे भी मानना आसान नहीं कि इस धारा के उपलब्ध सभी स्रोत जैन विचारधारा के स्वरूप हैं।

इस धर्म के कुल 24 तीर्थंकर हुए हैं। जैन धर्म के अनुयायियों के मत के अनुसार इन्हीं 24 तीर्थंकरों के सिद्धांतों और उपदेशों का सामूहिक परिणाम है जैन धर्म। परंपरानुसार जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव थे। इनके पश्चात् 23 तीर्थंकर और हुए, तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे। अनुमानतः इनकी तिथि ई.पू. आठवीं सदी है। इनके प्रमुख चार उपदेश (1) अहिंसा (2) सत्य भाषण (3) अस्तेय (चोरी न करना) और (4) अपरिग्रह (संपत्ति का त्याग) है। पार्श्व के लगभग 240 वर्ष बाद महावीर 24 वें (अंतिम तीर्थंकर) हुए। इन्होंने प्राचीन जैन धर्म के सिद्धांतों में संवर्धन और परिवर्तन करके उसे पुनः संगठित किया। साथ ही महावीर ने अपनी संगठन शक्ति के आधार पर जैन धर्म का विकास किया।

3.2.3. महावीर स्वामी की जीवनी

महावीर का जन्म वैशाली गणराज्य के कुण्डग्राम में एक प्रसिद्ध 'ज्ञात्रिक' नामक क्षत्रिय कुल में 540 ई.पू. में हुआ था। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ था। उनकी माता त्रिशला, वैशाली गणराज्य के अधीन छोटे से राज्य लिच्छवि के राजा चेतक की बहन थी। सिद्धार्थ के अपनी पत्नी त्रिशला से तीन संतानें हुईं— दो पुत्र और एक पुत्री। सबसे छोटे पुत्र का नाम वर्धमान था। यही कालांतर में महावीर स्वामी के नाम से इतिहास प्रसिद्ध हुए।

प्रारंभ में वर्धमान का जीवन राजकीय समृद्धि में बीता। उन्हें सभी प्रकार की राजोचित विद्याओं की शिक्षा भी दी गई। उनका विवाह यशोदा नाम की राजकुमारी से हुआ, जिनसे उन्हें एक कन्या भी पैदा हुई। जब वर्धमान 30 वर्ष के हुए तो उनके पिता सिद्धार्थ की मृत्यु हो गई। उनके पश्चात् वर्धमान का बड़ा भाई नंदिवर्धन राजा हुआ। वर्धमान का स्वभाव प्रारंभ से ही चिंतनशील था, इस समय तक उनकी निवृत्तिमार्गी प्रवृत्ति और दृढ़ हो गई थी। अतः उन्होंने अपने बड़े भाई नंदिवर्धन से आज्ञा लेकर गृह त्याग दिया।

महावीर ने अपनी पूरी शक्ति के अनुसार तपस्या आरंभ की। लगभग एक वर्ष एक महीना तक तो ये वस्त्र धारण किए रहे, तत्पश्चात् उन्होंने वस्त्र भी त्याग दिए। बिना पात्र के हथेली पर ही रखकर भोजन करने लगे। दो वर्ष और दो महीने की इस कठोर तपस्या के पश्चात् वे गृहविहीन और नग्न होकर भ्रमण करने लगे। इन

समस्त यात्राओं में महावीर को अनेक कठोर यातनाएँ और शारीरिक कष्ट सहने पड़े। जैन ग्रंथों के मतानुसार लोग उन्हें चिढ़ाते, मारते थे, परंतु वे निर्लिप्त से पूर्ण मौन और शांत रहते थे।

बारह वर्ष की कठोर तपस्या और साधना के पश्चात् जम्भिय नामक ग्राम के पास ऋजुपालिका नदी के तट पर एक साल के पेड़ के नीचे महावीर को 'कैवल्य' (ज्ञान) प्राप्त हुआ। तभी उन्हें 'केवलिन' की उपाधि मिली। उन्होंने अपनी इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर ली थी। अतः वह 'जिन' (विजेता) पुकारे जाने लगे, उनके अनुयायी 'जैन' कहलाए। अपने तपस्वी जीवन में उन्होंने अतुल्य पराक्रम, साहस, धैर्य, सहनशीलता प्रकट की, इसलिए वे 'महावीर' कहे जाने लगे। 42 वर्ष की अवस्था में महावीर को इस सत्यज्ञान की प्राप्ति हुई, वे अब सुख-दुःख के बंधन से सर्वथा मुक्त हो गए थे।

कैवल्य (ज्ञान) की प्राप्ति के पश्चात् 30 वर्ष तक महावीर एक स्थान से दूसरे स्थान, विभिन्न प्रदेशों और राज्यों में भ्रमण करते रहे और अपने उपदेश देते रहे। महावीर स्वामी के धर्म प्रचार में अनेक राजवंशों से सहायता भी मिली। मगध, वज्जि, काशी, कोशल, राजगृह, श्रावस्ती आदि प्रदेशों में महावीर ने अपनी शिक्षा का प्रचार किया। प्रारंभ में वे अकेले घूमा करते थे, पर कुछ काल पश्चात् उन्हें गोसाल नामक सहयोगी मिल गया था। लगभग छह वर्षों पश्चात् इनमें मतांतर हो गया था।

महावीर ने पार्श्वनाथ के जैन सिद्धांतों का प्रचार किया। पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित चार सिद्धांतों अहिंसा, अमृषा, अचौर्य, अपरिग्रह में महावीर ने अपना पाँचवाँ सिद्धांत 'ब्रह्मचर्य' भी जोड़ दिया और अपने दर्शन का प्रचार किया। उन्होंने एक ऐसे व्यवहारिक और धार्मिक मार्ग का प्रतिपादन किया, जिसका अनुसरण कर व्यक्ति मोक्ष या मुक्ति प्राप्त कर सकता था। इस प्रकार अथक परिश्रम का जीवन बिताकर 468 ई.पू. में राजगृह के निकट पावापुरी में उनकी मृत्यु हो गई।

3.2.4. जैन धर्म के सिद्धांत

बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म भी निवृत्तिमार्गी था। महावीर ने मानव संस्कृति को अहिंसा, त्याग तथा तप का जो वरदान दिया है, वह एक महत्वपूर्ण आदर्श रहा है। महावीर के सिद्धांत अधिकांशत: प्रायोगिक हैं, परंतु दार्शनिक भी हैं।

3.2.4.1 तत्व – इस विश्व में सात प्रकार के तत्व हैं -

3.2.4..1.1. जीव – जैन जीव को अनादि और अनन्त मानते हैं। आत्मा या जीव के तीन स्वाभाविक गुण हैं - सम्यक् ध्यान, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् आचरण। परंतु समस्त आत्मा में ये तीनों गुण अपने स्वाभाविक रूप में इसलिए नहीं मिलते कि कर्मों का आवरण उन्हें ढके रहता है। संसार में अनगिनत जीव हैं और सब समान हैं।

3.2.4.1.2. अजीव – अजीव अचेतन है। अजीव के अंतर्गत पाँच चीजें सम्मिलित हैं– पुद्गल (पदार्थ), आकाश, धर्म, अधर्म तथा काल (समय)। विश्व जीव और अजीव के घात प्रतिघात से चलता तथा कार्य करता है।

3.2.4.1.3. आस्रव – आस्रव अर्थात् कर्म संस्कार। राग, द्वेश व मोह आदि से प्रेरित होकर किए गए कर्मों की तरफ भी जीव का प्रवाह रहता है। इसे आस्रव कहा जाता है। शरीर, वाणी और मन से आस्रव स्फुटित होता है।

3.2.4.1.4. बन्ध – कर्म संस्कार द्वारा आत्मा शरीर का बन्ध नही बंधन कहलाता है। अतः कर्म ही बंधन का कारण है।
3.2.4.1.5. संवर – राग द्वेश आदि के प्रभाव से कर्म के आस्रव को रोकने को ही संवर कहते हैं। इसके द्वारा जीव पर कर्मों का प्रभाव रोकने का प्रयास किया जाता है।
3.2.4.1.6. निर्जरा – पूर्व जन्म के संचित कर्मों से छुटकारा पाने के लिए तप, योग करना ही निर्जरा है।
3.2.4.1.7. मोक्ष – कर्म बंधन (भले, बुरे हर प्रकार के कर्म) से मुक्ति पाने को मोक्ष कहते हैं। जैन धर्म के अनुसार मनुष्य को अपने पूर्व जन्म के कर्मों का नाश करना चाहिए तथा इस जन्म में कोई नए कर्म नहीं करने चाहिए। इस प्रकार वह मोक्ष प्राप्त कर जन्म मरण के बंधन से मुक्त हो सकता है।

3.2.4.2. पंच अणुव्रत – जैन गृहस्थों के लिए भी पाँच व्रत प्रतिपादित किए गए, परंतु यह समझकर कि भिक्षुओं की भाँति गृहस्थ अति कठोर व्रत का पालन नहीं कर सकेंगे, इनके लिए कठोरता कुछ कम कर दी गई। उन्हें भी सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता है। अहिंसा के अनुसार मन, वचन और कर्म से किसी भी प्रकार की हिंसा न करें, सदा सत्य एवं मधुर बोलना चाहिए। अपरिग्रह में उनसे आवश्यकता से अधिक वस्तुएँ संग्रहीत नहीं करने को कहा गया है। गृहस्थों के लिए यह तो आवश्यक है कि वे धनोपार्जन करें, पर उसी में लिप्त हो जाना और अर्थ संग्रह के पीछे भागना उचित नहीं है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है, सभी प्रकार के काम अर्थात् विषयवासना को त्याग देना। विषयवासना की बात न तो मन में लाएँ और न ही इस विषय में बातचीत करें।

3.2.4.6. सात शीलव्रत – अणुव्रतों का पालन तो गृहस्थों को करना ही चाहिए, साथ ही समय-समय पर अधिक कठोर व्रतों को ग्रहण करना भी उपयोगी है। अतः सात शीलव्रत भी बताए गए हैं। इन शीलव्रतों के दो भाग हैं– पहला गुणव्रत और दूसरा शिक्षाव्रत। इनका पालन करके गृहस्थ अपना जीवन उन्नत कर सकते हैं।

3.2.4.3. पंच महाव्रत – महावीर ने सर्वसाधारण के लिए पाँच नियम बताए, जिसको पंच महाव्रत कहते हैं।
अहिंसा महाव्रत – जानबूझकर अथवा अनजान में भी किसी प्रकार की हिंसा नहीं होनी चाहिए। इसका तात्पर्य है मन, वचन तथा कर्म से किसी भी व्यक्ति को कोई कष्ट न पहुँचाना।
असत्य त्याग महाव्रत – भाषण सदा सत्य हो और साथ में मधुर भी।
अस्तेय महाव्रत – अनुमति बिना किसी अन्य की वस्तु न ग्रहण करें और न ग्रहण करने की इच्छा भी करें। इसका तात्पर्य है– चोरी न करना।
अपरिग्रह – इसके अनुसार किसी भी प्रकार का संग्रह नहीं करना चाहिए। इससे आसक्ति की उत्पत्ति होती है। धन-धान्य, वस्त्राभरण सभी परित्याज्य हैं।
ब्रह्मचर्य – भिक्षु के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना अति आवश्यक है।

3.2.4.8. त्रिरत्न – जैन धर्म के सिद्धांतानुसार मोक्ष प्राप्त करने का लक्ष्य 'त्रिरत्न' के अनुशीलन और अभ्यास से प्राप्त होता है।
ये त्रिरत्न हैं–

(1) सम्यक् ज्ञान – इसका तात्पर्य है सत्य का ज्ञान, जो तीर्थंकरों के उपदेशों के अध्ययन से प्राप्त होता है।
(2) सम्यक् ध्यान – इसका तात्पर्य है मनुष्य को तीर्थंकरों के उपदेशों में विश्वास रखना चाहिए तथा दृढ़ता व निष्ठा के साथ उनकी पूजा करनी चाहिए।
(3) सम्यक् आचरण – इसका तात्पर्य है कि मनुष्य को सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य इन पाँच महाव्रतों के अनुसार जीवन बिताने का प्रयास करना चाहिए।

3.2.4.6. कर्म और पुनर्जन्म – जैन धर्म कर्म व पुनर्जन्म के सिद्धांत में विश्वास करता है। इसके अनुसार पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार मनुष्य का निरंतर पुनर्जन्म होता रहता है तथा वह जन्म-मरण के चक्र में फंसा रहता है। उसके सारे सुख दुःख कर्म के कारण ही हैं। अतः मनुष्य को अच्छे कर्म करके मोक्ष प्राप्त करके जन्म मरण के बंधन से छुटकारा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। कर्मफल से विमुक्ति ही निर्वाण-प्राप्ति का साधन है।

3.2.4.7. अनेकात्मवाद – जैन धर्म के अनुसार जिस प्रकार जीव भिन्न-भिन्न होते हैं, उसी प्रकार उनमें आत्मा भी भिन्न-भिन्न होती है। यह धर्म आत्मैक्य के ऊपर विश्वास नहीं करता है। इनके अनुसार यदि समस्त जीवों में केवल एक ही आत्मा होती तो ये एक दूसरे से पृथक रूप में न पहचाने जा सकते और न ही उनकी गतिविधियाँ भिन्न-भिन्न होती। यह धर्म पेड़ पौधों में भी आत्मा मानता है। इनके अनुसार आत्मा अजर-अमर है।

3.2.4.8. द्वैतवाद – जैन धर्म के अनुसार मनुष्य का निर्माण शरीर तथा आत्मा से मिलकर होता है। शरीर नाशवान तथा आत्मा अमर है। कर्मों का फल भोगने के लिए आत्मा निरंतर नए शरीर धारण करती रहती है। जब किसी कर्म का फल भोगना शेष नहीं रहता है, तब आत्मा पवित्र होकर मोक्ष प्राप्त कर लेती है।

3.2.4.9. स्याद्वाद – स्याद्वाद या अनेकांतवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु के अनंत रूप, पक्ष तथा गुण हैं, जिनका पूर्ण ज्ञान मोक्ष प्राप्ति के बाद हो पाता है। किसी भी वस्तु का एक ही पक्ष दिख पाता है। प्रत्येक पक्ष या दृष्टिकोण में सत्य का अंश अवश्य होता है। कोई भी मत पूर्ण नहीं होता। अतः व्यक्ति को दूसरे के मतों का भी सम्मान करना चाहिए। विद्वानों ने इस दृष्टिकोण को बहुत उदार माना है।

3.2.4.10. ईश्वर और सृष्टि – जैन धर्म ईश्वर के अस्तित्व में अविश्वास करता है, अतः उसे अनीश्वरवादी कहा गया है। जैन धर्म के अनुसार संसार वास्तविक है, इसका मूलतः कभी विनाश नहीं होता है। जिसे सामान्य रूप से विनाश समझा जाता है, वह परिवर्तन है। संसार में मूलतः 6 द्रव्यों का समुदाय है– जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। यह द्रव्य अनश्वर हैं और शास्वत हैं। मनुष्य की आत्मा में ही संपूर्ण शक्ति निहित है और इसमें ईश्वर का कोई हस्तक्षेप नहीं है। अतः संसार भी नित्य और अनश्वर है।

3.2.4.11. अहिंसा – जैन धर्म परम अहिंसा में विश्वास करता था। उनके अनुसार पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और त्रस-जीव (चलने फिरने वाले), इन सभी प्रकार के जीवों के प्रति

संयमपूर्ण व्यवहार ही अहिंसा है। इस परिभाषा के अनुसार प्राणी मात्र के प्रति मन, वचन और कर्म से किया गया कोई भी असंयत आचरण हिंसा है। कुछ जैन इस भय से अपने नाक-मुँह पर पट्टी बाँधने लगे कि कहीं कोई किटाणु साँस लेते समय वायु के साथ भीतर जाकर मर न जाए। इसी प्रकार चलते समय भूमि पर झाड़ू लगाने लगे, जिससे कि कोई कीट उनके पैरों के नीचे पड़कर मर न जाए।

3.2.4.12. काया-क्लेश – महावीर के अनुसार मनुष्य घोर तपस्या व उपवास द्वारा अपनी इंद्रियों पर नियंत्रण रख सकता है। जैन धर्म का विश्वास है कि जीव के भौतिक तत्व का दमन करने के लिए काया-क्लेश आवश्यक है। अतः जैन-शास्त्रों में घोर तप, व्रत व उपवास आदि पर बल दिया गया है।

3.2.4.13. श्वेतांबर और दिगंबर– एक अनुश्रुति के अनुसार चंद्रगुप्त मौर्य के समय में एक बड़ा अकाल पड़ा। उस समय चंद्रगुप्त और भद्रबाहु नामक भिक्षु दक्षिण चले गए। इसलिए संघ का भार स्थलबाहु पर आ पड़ा। उनके अनुयायियों ने वस्त्र पहनने प्रारंभ कर दिए और भद्रबाहु के अनुयायी नंगे रहते थे। इस प्रकार श्वेतांबर और दिगंबर संप्रदाय का प्रारंभ हुआ। कुछ विद्वानों के अनुसार इनकी उत्पत्ति पार्श्वनाथ के अनुयायियों से हुई थी। यद्यपि इन दोनों संप्रदायों के दार्शनिक विचार एक समान हैं, तथापि स्थूल रूप से इन दोनों संप्रदायों में अनेक भिन्नताएँ भी हैं।

दिगंबर संप्रदाय के अनुयायी निर्वस्त्र, जबकि श्वेतांबर अनुयायी श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। दिगंबर संप्रदाय रुढ़िवादी संप्रदाय है, जबकि श्वेतांबर संप्रदाय उदारवादी संप्रदाय है और व्यावहारिक परिवर्तन में विश्वास करता है। दिगंबर संप्रदाय स्त्रियोंको मोक्ष की अधिकारिणी नहीं मानता, श्वेतांबर स्त्रियों को भी मोक्ष की अधिकारिणी मानता है। दिगंबर महावीर को अविवाहित मानते हैं, जबकि श्वेतांबर उन्हें विवाहित तथा एक पुत्री का पिता मानते हैं। दिगंबर परंपरा के अनुसार ज्ञान प्राप्ति के बाद व्यक्ति को भोजन नहीं करना चाहिए, किंतु श्वेतांबर परंपरा के अनुसार ज्ञान प्राप्ति के बाद अन्न ग्रहण किया जा सकता है। इन दोनों संप्रदायों में जैनों के धार्मिक ग्रंथों के नामों में भेद है। इनके अतिरिक्त भी अन्य साधारण बातों में दोनों संप्रदायों में भेद हैं, परंतु तात्विक भेद नहीं हैं।

3.2.5. जैन धर्म की सांस्कृतिक देन– भारतीय संस्कृति को जैन धर्म की अनेक महत्वपूर्ण देने हैं।

3.2.5.1. सामाजिक क्षेत्र में – जैन भिक्षुओं का कठोर संयम और तपस्या का जीवन, उनके द्वारा विशेष रूप से अहिंसा का पालन भारतीयों के नैतिक जीवन के लिए एक प्रेरणा बन गया। जैन विचारकों ने मानव को एक माना और समानता के सिद्धांत को अपनाते हुए जाति-पाति के भेदभाव का विरोध किया। इस धर्म ने उच्च नैतिक जीवन पर बल दिया। इस प्रकार जैन धर्म ने मानवीय मूल्यों के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दिया, जो आज के संसार के लिए भी अनमोल आदर्श है।

3.2.5.2. भाषा व साहित्य के क्षेत्र में – जैन धर्म की भाषा व साहित्य के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण देन है। जैनियों ने विभिन्न कालों में विभिन्न भाषाओं में ग्रंथ लिखे, जिससे उन भाषाओं के विकास को प्रोत्साहन मिला। इनके मूल धार्मिक ग्रंथ प्राकृत भाषा में लिखे गए। इसके साथ ही अपभ्रंश भाषा में भी रचना हुई। कन्नड़, तमिल, तेलुगू भाषाओं के विकास में भी अपनी रचनाओं द्वारा जैन लेखकों ने योगदान दिया। इनके

द्वारा व्याकरण, काव्य, कोश, छंदशास्त्र, कथाएँ, गाथाएँ, गणित आदि विभिन्न विषयों पर भी मौलिक ग्रंथों की रचना की गई।

3.2.5.3. दार्शनिक क्षेत्र में – जैन धर्म की दर्शन के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण देन थी। इनके द्वारा दिए गए स्याद्वाद सिद्धांत का सार यह है कि भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखे जाने के कारण सत्य का स्वरूप भिन्न-भिन्न हो सकता है। अतः सत्य के कुछ अंग को देखकर संपूर्ण सत्य के विषय में मन नहीं बनाना चाहिए। सत्य के समस्त अंगों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उनके द्वारा प्रतिपादित अनेकांतवाद के अनुसार जैन धर्म आत्मा के स्वरूप की एकता नहीं मानता। उनका आकार और स्वरूप शरीर के अनुसार परिवर्तित होता है। जैन धर्म अपनी दृष्टि से संसार को समझने का प्रयास करता है।

3.2.5.4. कला के क्षेत्र में – कला के क्षेत्र में भी जैन धर्म की अत्यंत महत्वपूर्ण देन है। जैनियों की कला गुफाओं, मंदिरों, मूर्तियों और स्तूपों के रूप में आज भी विद्यमान हैं। उड़ीसा के पुरी जिले में उदयगिरी तथा खंडगिरी में 150 ई.पू. के आसपास की 35 जैन गुफाएँ मिली हैं। अनेक कलात्मक मंदिर भी मिले हैं, जिसमें राजस्थान में आबू पर्वत पर स्थित दिलवाड़ा का मंदिर कलात्मक सौंदर्य की दृष्टि से विख्यात है। मूर्तिकला के विकास में भी जैन धर्म ने बड़ा योगदान किया है। दक्षिण भारत के मैसूर में श्रवणबेलगोला के समीप बाहुबली की विशाल प्रतिमा इसका उदाहरण है। जैनियों ने स्तूपों का भी निर्माण करवाया। चित्रकला के क्षेत्र में भी जैन धर्म ने भारतीय संस्कृति को महत्वपूर्ण योगदान दी।

3.2.6. सारांश

जैन धार्मिक विचारधारा के अनुसार ऋषभ सबसे पहले तीर्थंकर थे। 23 वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ एवं 24 वें तीर्थंकर महावीर हुए। महावीर का जन्म वैशाली में हुआ, पिता सिद्धार्थ एवं माता त्रिशला थीं। तीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने परिवार को त्यागा एवं संन्यासी बन गए। बारह वर्ष की कठोर तपश्चर्या के पश्चात् इन्हें कैवल्य प्राप्त हुआ। पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित जैन सिद्धांत में एक सिद्धांत 'ब्रह्मचर्य' महावीर ने शामिल किया। जैन दर्शन का विश्वास द्वैतवादी तत्वज्ञान में है। जैन धर्म के पाँच सिद्धांत– सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय और ब्रह्मचर्य हैं। इनके अनुसार त्रिरत्न (सम्यक ध्यान, सम्यक ज्ञान और सम्यक आचरण) का पालन करना चाहिए। जैन धर्म में अहिंसा पर बल दिया गया। जैन पशु-पक्षी, वनस्पति के साथ-साथ जल, पहाड़ आदि सभी जगह जीव का अस्तित्व मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा की सर्वोत्तम स्थिति ही ईश्वर है। इनके अनुसार निर्वाण प्राप्ति के लिए संन्यासी जीवन और तप आवश्यक है। अहिंसा की मनोवृत्ति को बढ़ावा देने में जैन धर्म का विशेष सहयोग रहा है।

3.2.7. बोध प्रश्न

1. महावीर के जीवन और उनके उपदेशों की समीक्षा कीजिए।
2. जैन धर्म के प्रमुख सिद्धांतों पर प्रकाश डालिए।
3. भारतीय संस्कृति को जैन धर्म का क्या योगदान रहा?

3.2.8. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1. पाण्डेय, विमल चंद्र. (2002). *प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास (भाग-1).* इलाहाबाद : सेंट्रल पब्लिशिंग हाउस।
2. विद्यालंकार, सत्यकेतु. (1987). *प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन.* मसूरी : श्री सरस्वती सदन।
3. रस्तोगी, जे. एन., शर्मा एस. एन. (1974). *भारतीय धर्म एवं संस्कृति.* नई दिल्ली : एस. चंद एण्ड कंपनी।
4. कुमार, दीपक. (2004). *भारतीय संस्कृति.* जयपुर : राज पब्लिशिंग हाउस।
5. बाशम, ए. एल., अद्भुत भारत

खंड - 3 : छठी शताब्दी ई.पू. में धार्मिक आंदोलन
इकाई - 4 : भौतिकतावादी संप्रदाय - चार्वाक एवं आजीवक

इकाई की रूपरेखा

3.4.1. उद्देश्य
3.4.2. प्रस्तावना
3.4.3. चार्वाक संप्रदाय के प्रणेता– चार्वाक
3.4.4. चार्वाक दर्शन
3.4.4.1. चार्वाक दर्शन एवं भौतिकवाद
3.4.5. आजीवक संप्रदाय के प्रणेता– गोसाल
3.4.6. आजीवक दर्शन
3.4.7. सारांश
3.4.8. बोध प्रश्न
3.4.9. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

3.4.1. उद्देश्य

छठी शताब्दी ई.पू. में भारत में धार्मिक आंदोलन हुए, जिसमें मुख्य रूप से उल्लेखनीय बौद्ध धर्म व जैन धर्म हैं, परंतु इन्हीं के समकालीन कुछ भौतिकतावादी संप्रदाय भी अस्तित्व में आए। ऐसे ही दो संप्रदाय– चार्वाक व आजीवक पर प्रकाश डालना इस इकाई का मुख्य उद्देश्य है।

3.4.2. प्रस्तावना

भारतीय इतिहास में छठी शताब्दी एक महत्वपूर्ण धार्मिक सुधारना का काल था। इस समय में अनेक नवीन धार्मिक संप्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ था। बौद्ध और जैन धर्म तो जन-जन तक पहुँचे, पर कुछ ऐसे भी संप्रदाय हुए, जिनका परिचय प्रायः लोगों को नहीं है। इसी प्रकार का एक संप्रदाय आजीवक था। इसके पूर्व भी भौतिकतावादी संप्रदाय– चार्वाक का भारत में प्रादुर्भाव हुआ था। इस लोकायत संप्रदाय के नेता बृहस्पति और चार्वाक वेद के भयंकर निंदक थे। उन्होंने खुलकर वेदों की निंदा की, मगर इन भौतिकतावादी संप्रदायों चार्वाक व आजीवक लोगों पर विशेष प्रभाव नहीं डाल पाए, अंततः समाज इनको आदर की दृष्टि से भी नहीं देख पाया। अतः इन संप्रदायों का जन-मानस पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ पाया एवं समय के साथ ये संप्रदाय धीरे-धीरे लुप्तप्राय हो गए।

3.4.3. चार्वाक संप्रदाय के प्रणेता

चार्वाक एक नास्तिक तत्वज्ञानी मुनि थे। अवंति देश की क्षिप्रा और चामसा नदी के संगम पर स्थित शंखोद्वार नामक क्षेत्र में इनका जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम इंदुकांत और माता का नाम रुक्मिणी था। वे 'प्रवंचनाशास्त्र' के रचयिता, बृहस्पति के शिष्य और 'चार्वाक ध्वनि' के रचयिता थे। वे प्रत्यक्षवादी थे और उनके द्वारा प्रतिपादित दर्शन चार्वाक दर्शन के नाम से विख्यात है।

3.4.4. चार्वाक दर्शन

कदाचित् मानव जीवन का सबसे प्राचीन दर्शन चार्वाक दर्शन है। इसे लोकायत या लोकायतिक दर्शन भी कहते हैं। लोकायत का शाब्दिक अर्थ है 'जो मत लोगों के बीच व्याप्त है, जो विचार जनसामान्य में प्रचलित है।' माना जाता है कि 'लोकायत' विचार का कोई प्रणेता नहीं है, परंतु इसे दर्शन रूप में स्थापित करने का श्रेय आचार्य बृहस्पति को दिया जाता है, जो कदाचित् देवगुरु बृहस्पति से भिन्न थे। चार्वाक को उनका शिष्य बताया जाता है, जिसने इस विशुद्ध भौतिकवादी विचारधारा को प्रचारित प्रसारित किया। संभवतः इसीलिए इसका नाम इस दर्शन से जुड़ गया। कुछ विद्धानों के अनुसार चार्वाक नाम भी उसका मौलिक नाम नहीं था। उसके नाम की व्याख्या इस प्रकार दी गई है— 'चारु : लोकसम्मतो वाको वाक्यं यस्य' अर्थात् लोकलुभावन और आम जन को प्रिय लगने वाला वचन कहता हो, प्रचारित करता हो, वह चारुवाक। कालांतर में यही बदलकर चार्वाक हो गया। जो सीधे तौर से समझ में आए और सुविधाजनक लगे, जीवन का वैसा रास्ता जो दिखाए वह चार्वाक।

तार्किक और विचारशील मनीषी चार्वाक एक समर्पित विज्ञान संचारक थे, उनके अनुसार जो प्रत्यक्ष है, वही प्रमाण है। उनके विचार के अनुसार आत्मा का देह से पृथक कोई अस्तित्व नहीं है। उन्होंने कहा कि मृत्यु ही मोक्ष है, न तो कोई स्वर्ग है और न कोई अंतिम मोक्ष और न ही शरीर के परे आत्मा है। उनके अनुसार चार वर्णों की कर्म व्यवस्था का भी कोई फल नहीं होता। 'न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारौकिकः नैव वर्नाश्रमादीनाम क्रियष्चफल्देयिका' चार्वाक ने ईश्वर के अस्तित्व को इसलिए नकारा, क्योंकि उन्हें इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं दिखा, जबकि समाज में ईश्वर के नाम पर लोगों को शोषित करने का निंदनीय कार्य प्रचलित था। चार्वाक जीवन दर्शन का सार निम्न कथन में निहित है—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।
त्रयोवेदस्य कर्तारौ भण्डधूर्तनिषचराः।

इसके अनुसार मनुष्य जब तक जीवित रहे तब तक सुखपूर्वक जिए। ऋण करके भी घी पिए अर्थात् सुख-भोग के लिए जो भी उपाय करने पड़े उन्हें करे। दूसरों से उधार लेकर भी भौतिक सुख-साधन जुटाने में हिचके नहीं। परलोक, पुनर्जन्म, आत्मा-परमात्मा जैसी बातों की परवाह न करें। जो शरीर मृत्यु के पश्चात् दाह-संस्कार में राख हो जाता है, उसके पुनर्जन्म का सवाल ही नहीं उठता। जो भी है, इस शरीर के जीवित रहते ही है, उसके बाद कुछ भी नहीं बचता है। इस तथ्य को समझकर ही मनुष्य को सुख भोगना चाहिए, चाहे उधार लेकर ही सही। उनके अनुसार वेदों के रचयिता ने आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य जैसी बातों के भ्रम फैलाकर लोगों में भ्रम फैलाया है।

चार्वाक दर्शन नास्तिकवादी एवं अनीश्वरवादी है। इस दर्शन के अनुसार जिसके भी अस्तित्व का ज्ञान देख-सुनकर अथवा अन्य प्रकार से किया जा सकता है, वही इंद्रियगम्य है। जिस भी ज्ञान को चिंतन मनन से मिलने की बात कही जाती है, वह भ्रामक है, मिथ्या है, क्योंकि वह महज अनुमान पर टिका है। आत्मा-परमात्मा का कोई अस्तित्व नहीं है, अतः पाप-पुण्य, स्वर्ग-नर्क का वास्तव में कोई अर्थ नहीं है।

चार्वाक सिद्धांत चार तत्वों, पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु को मान्यता देता है। समस्त जीव-निर्जीव इन्हीं के संयोग से बने हैं। स्थूल वस्तुओं अथवा जीवों की रचना में 'आकाश' का भी कोई योगदान नहीं रहता

है। अत: चार्वाक सिद्धांत आकाश को पाँचवें तत्व के रूप में स्वीकार नहीं करता है। अन्य कई दर्शन 'आकाश' को सम्मिलित कर पाँच महाभूतों को भौतिक सृष्टि का आधार मानते हैं। चार्वाक के अनुसार मनुष्यों एवं अन्य जीवों की चेतना इन्हीं मौलिक तत्वों के परस्पर मेल से उत्पन्न होती है। शरीर के अपने अवयवों में बिखरने से उसके साथ यह चेतना भी लुप्त हो जाती है। चार्वाक के कथन के अनुसार जिस प्रकार पान के पत्ते तथा सुपाड़ी के चूर्ण के संयोग से लाल रंग होठों पर छा जाता है, उसी प्रकार इन चेतनाशून्य घटक तत्वों के परस्पर संयोग से चेतना की उत्पत्ति होती है। अर्थात् चेतना आत्मा या अन्य किसी अभौतिक सत्ता के विद्यमान होने से नहीं आती है।

3.4.4.1. चार्वाक दर्शन एवं भौतिकवाद – चार्वाक दर्शन वस्तुतः आज का विज्ञान पोषित भौतिकवाद है, जिसकी मान्यता है कि समस्त सृष्टि भौतिक पदार्थ और उससे अनन्य रूप से संबद्ध ऊर्जा का ही कमाल है। पदार्थ से ही जीवधारियों की रचना होती है। उसमें किसी अभौतिक सत्ता की कोई भूमिका नहीं है। जीव रचना की जटिलता के साथ ही चेतना का भी उदय हुआ है। ऐसी संरचना के निरंतर विकास के फलस्वरूप मानव का जन्म हुआ है। वैज्ञानिकों का एक वर्ग यह मानता है कि चेतना का मूल कारण भौतिकी के प्राकृतिक नियम में ही है।

आधुनिक विज्ञान पदार्थमूलक है, उसका अध्यात्म से कोई संबंध नहीं है। आज के विज्ञानमूलक भौतिक दर्शन में चार्वाक दर्शन की छवि मिलती है।

3.4.5. आजीवक संप्रदाय के प्रणेता–गोसाल

प्राचीन भारत के इतिहास में धर्म प्रवर्तक के रूप में मक्खलिपुत्र गोसाल का भी नाम मिलता है। गोसाल गौतम बुद्ध एवं महावीर के समकालीन माने जाते हैं। इनके प्रारंभिक जीवन के विषय में बहुत पुष्ट जानकारी उपलब्ध नहीं है। जैन ग्रंथ भगवती सूत्र के अनुसार इनके पिता का नाम मक्खली एवं माता का नाम भद्दा (Bhadda) था। इनका जन्म गोशाला में हुआ था, जिससे उन्हें 'गोसाल' नाम दिया गया। गोसाल के पिता भी संभवतः धार्मिक गीत गाते हुए भ्रमण करते रहने वाले संत थे। गोसाल भी बचपन से ही धर्म के प्रति आकर्षित एवं समर्पित थे। इनके बचपन की जानकारी के स्रोत भी बौद्ध एवं जैन ग्रंथ ही हैं। आजीवक संप्रदाय के ग्रंथों से जानकारी नहीं मिलती है।

जैन ग्रंथों के अनुसार मक्खलीपुत्र गोसाल छोटी आयु में ही भिक्खु हो गया था। शीघ्र ही वर्धमान महावीर से उनका परिचय हुआ, जो 'केवलिन' पद पाकर अपने विचारों का जनता में प्रसार करने में संलग्न थे। गोसाल महावीर के साथ ही रहने लगे, परंतु इन दोनों के आचार-विचार, स्वभाव, चरित्र एक दूसरे से भिन्न थे, जिससे छह साल बाद उनका साथ एक दूसरे से छूट गया। गोसाल ने एक पृथक संप्रदाय की स्थापना की, जो आगे चलकर आजीवक संप्रदाय के नाम से विख्यात हुआ। गोसाल ने अपने कार्य का मुख्य केंद्र श्रावस्ती को बनाया। श्रावस्ती के बाहर एक कुंभकार स्त्री के यहाँ अतिथि होकर उन्होंने निवास प्रारंभ किया, धीरे-धीरे उसके बहुत-से अनुयायी हो गए।

3.4.6. आजीवक दर्शन

आजीवक संप्रदाय के विचार मुख्य रूप से 'सामंजफलसुत्त' (Sammannaphala Sutra) तथा 'भगवतीसूत्र' में प्राप्त होते हैं। इनके कुछ मंतव्यों के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। आजीवक पुरुषार्थ में विश्वास नहीं करते थे, वे नियति को ही मनुष्य की सभी अवस्थाओं के लिए उत्तरदायी ठहराते थे। उनके नियतिवाद में पुरुष के बल या पराक्रम का कोई स्थान नहीं था। वे मानते थे कि संसार में सब बातें पहले से ही नियत हैं। 'जो होना है, वही होगा।' अगर भाग्य न हो, तो आई हुई चीज़ भी नष्ट हो जाती है। नियति के बल से जो कुछ होना है, वह चाहे शुभ हो या अशुभ, अवश्य होकर रहेगा। मनुष्य के पुरजोर प्रयत्न से भी वह बदल नहीं सकता इसीलिए आजीवक लोग पौरुष, कर्म और उत्थान की अपेक्षा भाग्य या नियति को अधिक बलवान मानते थे। आजीवकों के अनुसार वस्तुओं में जो विकार व परिवर्तन होते हैं, उनका कोई कारण नहीं होता है। वह सब नियत है, मनुष्य का अपने पुरुषार्थ से उसे बदलना असंभव है।

वर्धमान महावीर के साथ गोसाल का जिन बातों पर मतभेद हुआ, उनमें मुख्य निम्नलिखित थीं— शीतल जल का उपयोग करना, अपने लिए विशेष रूप से तैयार भोजन ग्रहण करना, स्त्रियों से संबंध स्थापित करना। मक्खलिपुत्र गोसाल की प्रवृत्ति भोग की ओर अधिक थी। महावीर की तपस्यामय जीवन प्रणाली उसे पसंद नहीं थी। अतः बुद्ध ने भी आजीविकों को ऐसा संप्रदाय माना जो ब्रह्मचर्य को महत्व नहीं देते थे।

वैसे आजीवक भिक्षु का जीवन बड़ा सादा होता था। वे प्रायः हथेली पर रखकर भोजन किया करते थे। उनके लिए माँस, मछली और मदिरा का सेवन वर्जित था। वे दिन में केवल एक बार भिक्षा माँगकर भोजन करते थे।

आजीवक संप्रदाय का भी पर्याप्त प्रसार हुआ था। सम्राट अशोक के शिलालेखों में ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि उसने गुहा-निवास आजीविकों को प्रदान किए थे। अशोक के पौत्र सम्राट दशरथ ने भी गया के समीप नागार्जुनी पहाड़ियों में अनेक गुहाएँ आजीवकों के निवास के लिए दान में दी थीं। ऐसा उल्लेख शिलालेख से प्राप्त होता है। अशोक द्वारा नियुक्त 'धर्म महामात्रों' को जिन संप्रदायों पर दृष्टि रखने का आदेश दिया गया था, उसमें भी आजीवकों का नाम मिलता है। इन सब उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह संप्रदाय भी कई सदियों तक जीवित रहा था। इस समय इसके अनुयायी शेष नहीं हैं।

3.4.7. सारांश

लोकायत दर्शन वेद की निंदा करने वाला नास्तिक दर्शन है। शास्त्रकारों के अनुसार चार्वाक नास्तिकवादी थे। इन्होंने सृष्टिकर्त्ता आदि की सत्ता को स्वीकार नहीं किया। इनके अनुसार आत्मा-परमात्मा, पाप-पुण्य सब भ्रम है। शरीर के जीवित रहते ही सब कुछ है, मरने के बाद कुछ भी नहीं। चेतना आत्मा के विद्यमान होने से नहीं आती है। आजीवक संप्रदाय की स्थापना गोसाल ने की थी। ये गौतम बुद्ध के समकालीन थे। वह पुरुषार्थ में विश्वास नहीं करता था। वे नियति को मनुष्य की सभी अवस्थाओं के लिए उत्तरदायी ठहराते थे। वे पाप या पुण्य का कोई हेतु या कारण नहीं मानते थे। चार्वाक एवं आजीवकों का संप्रदाय कभी इतना विशाल नहीं हुआ कि राजनीति पर उसका कोई विशेष प्रभाव पड़ा हो।

3.4.8. बोध प्रश्न

1. चार्वाक संप्रदाय एवं उनके दर्शन पर प्रकाश डालिए।
2. भौतिकतावादी संप्रदाय आजीवक के बारे में आप क्या जानते है?

3.4.9. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1. विद्यालंकार, सत्यकेतु. (1987). *प्राचीन भारत.* नई दिल्ली : श्री सरस्वती सदन।
2. दिनकर, रामधारी सिंह. (2010). *संस्कृति के चार अध्याय.* इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन।
3. शास्त्री, हरिदत्त. (1966). *भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास.* मेरठ : साहित्य भंडार।
4. बाशम, ए.एल., अद्भुत भारत

खंड - 4 : महाजनपद से मौर्य साम्राज्य

इकाई - 1 : महाजनपद और मगध साम्राज्य

इकाई की रूपरेखा

1.1.1. उद्देश्य

1.1.2. प्रस्तावना

1.1.3. महाजनपद

- **1.1.3.1. अंग**
- **1.1.3.2. मगध**
- **1.1.3.3. काशी**
- **1.1.3.4. कोसल**
- **1.1.3.5. वज्जि**
- **1.1.3.6. मल्ल**
- **1.1.3.7. चेदि**
- **1.1.3.8. वत्स**
- **1.1.3.9. कुरु**
- **1.1.3.10. पंचाल**
- **1.1.3.11. मत्स्य**
- **1.1.3.12. शूरसेन**
- **1.1.3.13. अस्सक (अश्मक)**
- **1.1.3.14. अवन्ति**
- **1.1.3.15. गंधार**
- **1.1.3.16. कंबोज**

1.1.4. मगध साम्राज्य का उत्कर्ष

- **1.1.4.1. बिंबिसार**
  - **1.1.4.1.1.वैवाहिक संबंध**
  - **1.1.4.1.2. मैत्री संबंध**
  - **1.1.4.1.3. साम्राज्य विस्तार**
  - **1.1.4.1.4. शासन**
- **1.1.4.2. अजातशत्रु**
- **1.1.4.3. उदायिन्**
- **1.1.4.4. शिशुनाग**
- **1.1.4.5. कालाशोक**
- **1.1.4.6. महापद्मनंद**

1.1.5. सारांश

1.1.6. बोध प्रश्न

1.1.7. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

4.1.1. उद्देश्य

छठी शताब्दी ई.पू. के समय में भारत छोटे-छोटे अनेक राज्यों में विभाजित था। बौद्ध और जैन धार्मिक ग्रंथों में 16 महाजनपदों का उल्लेख मिलता है। उन महाजनपदों के विषय में जानकारी देना इस इकाई का उद्देश्य है।

4.1.2. प्रस्तावना

प्राचीन भारत की राजनैतिक अवस्था की जानकारी धार्मिक ग्रंथों, विशेषकर बौद्ध ग्रंथों से मिलती है। इन ग्रंथों के अनुशीलन से भारत की राजनीतिक व्यवस्था के संबंध में यह पता चलता है कि उन दिनों देश में कोई सार्वभौम सत्ता नहीं थी। देश के विभिन्न भागों में कई छोटे-छोटे राज्य विद्यमान थे और मुख्य रूप से विकेंद्रीकरण की प्रवृत्ति की अधिकता थी। साम्राज्यवादी प्रवृत्ति विकसित हो रही थी और शक्तिशाली राज्य निर्बल राज्यों के अस्तित्व को समाप्त कर अपने साम्राज्य के संवर्धन की चेष्टा में लगे हुए थे। भारत में उस समय राजतंत्रात्मक और गणतंत्रात्मक दोनों प्रकार की राजसंस्थाएँ अस्तित्व में थीं, जिन्हें जनपद कहा जाता था। बौद्ध एवं जैन साहित्यों में ऐसे बहुत से जनपदों का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण ग्रंथों में सर्वप्रथम जनपद शब्द का प्रयोग मिलता है, अतः स्पष्ट है कि उस समय जनपदों का अस्तित्व था। बौद्ध युग में ये जनपद पूर्ण विकसित हो गए थे।

4.1.3. महाजनपद

छठी शताब्दी ई.पू. में भारत में कोई एक सार्वभौम सत्ता नहीं थी और संपूर्ण राष्ट्र अनेक जनपदों में विभक्त था। ऋग्वेद के विवरणों से ज्ञात होता है कि किसी एक पूर्वज से उत्पन्न विभिन्न कुटुंबों के समूह को जन कहते थे। इस प्रकार सभी आर्य अनेक जनों में विभक्त थे। प्रारंभ में ये जन एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमा करते थे, ऋग्वेद में जनों का उल्लेख आता है, परंतु जनपदों (स्थायी राज्यों) का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय तक जनों ने अपने स्थायी राज्य स्थापित नहीं किए थे। ब्राह्मण ग्रंथों में 'जनपद' शब्द का प्रयोग मिलता है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण काल तक आते-आते जनों ने अपने-अपने स्थायी राज्य स्थापित कर लिए थे। जिस प्रदेश में एक जन स्थायी रूप से बस गया, वही उसका जनपद (राज्य) कहलाने लगा था। प्रारंभ में जनपद में किसी एक वर्ग विशेष के मनुष्य ही रहते थे। अतः उनका जीवन एक ही जातीय, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परंपरा के ऊपर संगठित था, परंतु आगे चलकर अन्य वर्गों एवं जातियों के लोग भी आकर उनके जनपदों में बसने लगे। इससे सांस्कृतिक आदान प्रदान होने लगा। प्रत्येक जनपद में बहुत से ग्राम और नगर होते थे। धीरे-धीरे ये छोटे-छोटे जनपद (राज्य) आपस में जुड़ने लगे और इस प्रकार देश में महाजनपदों का उदय हुआ। महात्मा बुद्ध के आविर्भाव के पहले संपूर्ण उत्तर भारत 16 महाजनपदों में विभक्त था। बौद्ध ग्रंथों में दिए गए सोलह महाजनपद निम्नलिखित हैं—

4.1.3.1. अंग – इस राज्य का विस्तार वर्तमान भागलपुर और मुंगेर जिले में था। यह मगध के पूर्व में था। इस जनपद की राजधानी का नाम चंपा था। प्रारंभ में अंग प्रदेश एक शक्तिशाली जनपद था, परंतु बिंबिसार के समय इसे मगध के साथ मिला लिया गया था।

4.1.3.2. मगध – वर्तमान बिहार के पटना और गया जिले इस जनपद के अंतर्गत आते थे। प्रारंभ में इसकी राजधानी गिरिव्रज (राजगीर) थी, किंतु बाद में पाटलिपुत्र हो गई। मगध के सर्वप्रथम राजवंश की स्थापना बृहद्रथ ने की थी। गौतम बुद्ध के काल तक आते-आते यह सर्वाधिक शक्तिशाली और महत्वपूर्ण बन गया था तथा अंत में क्रमिक रूप से उन्नति करते-करते यह अपने सभी समकालीन जनपदों में प्रधान बन गया। बृहद्रथ और जरासंध मगध के दो प्रसिद्ध राजा थे।

4.1.3.3. काशी – इसकी राजधानी वाराणसी थी, जो वरुणा और अस्सी नदियों के संगम पर स्थित थी। यह भारतवर्ष की सर्वप्रथम नगरी थी। बौद्ध ग्रंथ महावग्ग में काशी राज्य की शक्ति व समृद्धि का वर्णन मिलता है।

4.1.3.4. कोसल – यह अत्यंत महत्वपूर्ण राज्य था। सामान्यतः पूर्वी उत्तर प्रदेश का क्षेत्र प्राचीन कोसल नगरी में आता था। सरयू नदी के कारण यह उत्तर तथा दक्षिण दो भागों में बँटा था। उत्तर कोसल की राजधानी श्रावस्ती तथा दक्षिण कोसल की राजधानी साकेत थी। यह अत्यधिक समृद्ध राज्य था तथा गौतम बुद्ध के समय यहाँ का राजा प्रसेनजीत था। शाक्यों का कपिलवस्तु गणराज्य इसी कोसल राज्य के अंतर्गत आता था।

4.1.3.5. वज्जि – वज्जि वस्तुतः एक संघ था। इसमें अष्ट राज्यों का संघ था, जिनमें लिच्छवि, विदेह, ज्ञात्रिक विशेष महत्वपूर्ण थे। विदेह की राजधानी (जनकपुर) लिच्छवियों की राजधानी वैशाली तथा ज्ञात्रिकों की राजधानी कुण्डग्राम थी। ये सारे राज्य आधुनिक बिहार प्रांत में स्थित थे।

4.1.3.6. मल्ल – वज्जि राज्य की तरह ही मल्ल राज्य भी एक संघ राज्य था। इस संघ राज्य में मल्लों की दो शाखाएँ सम्मिलित थीं। एक कुशीनगर की मल्ल शाखा और दूसरी पावा की मल्ल शाखा। महाभारत में भी इन दो भागों में बँटे मल्ल का उल्लेख मिलता है। मल्लों की राजधानी कुसीनारा में थी। यहीं बुद्ध की मृत्यु हुई थी। कुसीनारा की पहचान देवरिया जिले के कसियॉ गाँव से की गई है।

4.1.3.7. चेदि – यह जनपद यमुना नदी के तट पर स्थित था और आधुनिक बुंदेलखंड का पूर्वी भाग इस जनपद में आता था। इसकी राजधानी शक्तिमती थी। चेदि राज्य का उल्लेख महाभारत में भी आता है। शिशुपाल यहीं का राजा था।

4.1.3.8. वत्स – यह देश गंगा नदी के दक्षिण की ओर एवं यमुना नदी के तट पर स्थित था। इसकी राजधानी कौशांबी थी, जो इलाहाबाद के निकट है। पुराणों में भी वत्स का वर्णन मिलता है। गौतम बुद्ध के काल में यहाँ का राजा उदयन था, ऐसा स्वप्नवासवदत्ता नामक नाटक में मिलता है।

4.1.3.9. कुरु – वर्तमान दिल्ली तथा मेरठ के समीपवर्ती प्रदेश कुरुराज्य के अंतर्गत थे। इसकी राजधानी इंद्रप्रस्थ थी। जातकों के अनुसार यह जनपद तीन सौ संघों का समूह था। पहले संभवतः इस जनपद में राजतंत्र था, किंतु महात्मा बुद्ध के काल में गणतंत्र की स्थापना हो चुकी थी। महाभारत काल का हस्तिनापुर संभवतः इसी का दूसरा नाम था।

4.1.3.10. पंचाल – इस जनपद में आधुनिक बदायूँ, फरूखाबाद और बरेली सम्मिलित था। प्राचीन काल में पंचाल देश दो राज्यों में विभक्त था। पहला उत्तर पंचाल, जिसकी राजधानी अहिच्छत्र थी और दूसरा दक्षिण पंचाल, जिसकी राजधानी कांपिल्य थी। छठी शताब्दी ई.पू. में पंचाल ने एक संघ बना लिया था तथा गणराज्य का स्वरूप धारण कर लिया था।

4.1.3.11. मत्स्य – आधुनिक जयपुर और अलवर का क्षेत्र मत्स्य जनपद में माना जाता है, जिसमें कुछ भाग भरतपुर का भी था। इसकी राजधानी विराटनगर अथवा वैराग्य थी। इस जनपद का उल्लेख पालि साहित्य में मिलता है।

4.1.3.12. शूरसेन – मथुरा और उसके आसपास का क्षेत्र शूरसेन जनपद में आता था। इस जनपद की राजधानी मथुरा थी। गौतम बुद्ध के काल में इसका राजा अवन्तिपुत्र था। यहाँ पहले गणतंत्र राज्य था, परंतु बुद्ध के समय इसमें राजतंत्र की स्थापना हुई।

4.1.3.13. अस्सक (अश्मक) – यह जनपद दक्षिण भारत में गोदावरी नदी के तट पर स्थित था। इसकी राजधानी पोतन या पोटिल थी। जातक कथाओं में अस्सक के राजाओं के नाम मिलते हैं।

4.1.3.14. अवन्ति – आधुनिक भारत का मालवा प्रांत प्राचीन काल का अवन्ति राज्य था। प्रमुखतया इस राज्य के दो भाग थे – उत्तरी अवन्ति तथा दक्षिणी अवन्ति। इनकी राजधानी क्रमश: उज्जैन तथा महिष्मती थी। गौतम बुद्ध के काल में इस जनपद का शासक चंड प्रद्योत था।

4.1.3.15. गंधार – आधुनिक पेशावर एवं रावलपिंडी तथा कश्मीर का कुछ क्षेत्र इस जनपद की सीमाओं में आता था। इसकी राजधानी तक्षशिला थी और गौतम बुद्ध के काल में यहाँ का राजा पुष्कर सारिन था।

4.1.3.16. कंबोज – यह जनपद गांधार जनपद का पड़ोसी था और जम्मू कश्मीर के सीमांत प्रदेश इस जनपद के अंतर्गत आते थे। इस राज्य की राजधानी हाटक या राजपुर थी।

4.1.4. मगध साम्राज्य का उत्कर्ष

छठी शताब्दी ई.पू. में भारत सोलह महाजनपदों में विभक्त था, किंतु इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सभी समकालीन जनपदों को आत्मसात कर अंततः मगध प्रधान हो गया। मगध को भारत की एक प्रमुख सत्ता बनाने में कुशल योग्य शासक परंपरा, उचित भौगोलिक एवं प्राकृतिक परिस्थिति का योगदान था। पौराणिक परंपराओं में बृहद्रथ को मगध का प्रथम शासक बताया गया है। इसका पुत्र जरासंध था जिसने बृहद्रथ के बाद

शासन किया। महात्मा बुद्ध के समय में बिंबिसार मगध में शासन कर रहा था। आधुनिक पटना और गया के जिले प्राचीन मगध में सम्मिलित थे। इसकी राजधानी गिरिव्रज (राजगीर) थी।

4.1.4.1. बिंबिसार (544 ई.पू. से 492 ई.पू.) – जैन तथा बौद्ध परंपराओं के अनुसार महावीर तथा गौतम बुद्ध के काल में मगध पर बिंबिसार का शासन था। वह मगध का पहला शासक था जिसने साधारण से मगध राज्य को एक साम्राज्य का रूप दिया। बौद्ध साहित्य के अनुसार वह हर्यक वंश का था। बिंबिसार ने अपने साम्राज्य विस्तार के लिए तीन प्रकार की नीतियाँ अपनाई थीं – 1. वैवाहिक संबंध, 2. मैत्री संबंध तथा3. युद्ध।

4.1.4.1.1. वैवाहिक संबंध– बिंबिसार ने अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने के लिए कई महत्वपूर्ण विवाह संबंध किए–

1. उसने कोसल के राजा महाकोसल की पुत्री से विवाह कर लिया। कोसलदेवी प्रसेनजीत की बहन थी। इस विवाह में बिंबिसार को काशी-ग्राम तथा दस हजार मुद्राएँ उपहार-स्वरूप प्राप्त हुई थीं।
2. उसने लिच्छवि नरेश चेतक की पुत्री चेल्लना (छल्ना) के साथ भी विवाह किया। फलस्वरूप लिच्छवियों के साथ मित्रता संबंध स्थापित हुआ।
3. उसका तीसरा विवाह मद्र देश की राजकुमारी क्षेमा के साथ हुआ था।
4. महावग्ग के अनुसार बिंबिसार की 500 रानियाँ थीं। संभव है कि उनके कुछ अन्य राजवंशों के साथ भी वैवाहिक संबंध स्थापित हुए हों।

4.1.4.1.2. मैत्री संबंध– बिंबिसार के मित्र राज्यों में अवन्ति एवं गांधार का नाम उल्लेखनीय हैं। अवन्ति नरेश चंड प्रद्योत की चिकित्सा के लिए अपने वैद्य जीवक को अवन्ति भेजा था। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार गांधार नरेश पुक्कुसाति ने उसकी राजसभा में एक दूत भेजा था।

4.1.4.1.3. साम्राज्य विस्तार – तत्कालीन राजनीति में स्थिति सुदृढ़ करने के पश्चात् बिंबिसार ने अपने साम्राज्य विस्तार के लिए युद्धनीति का सहारा लिया और पड़ोसी राज्य अंग पर आक्रमण किया। उसका राजा ब्रह्मदत्त मारा गया और अंग का राज्य मगध राज्य में मिला लिया गया। कोसल नरेश से काशी ग्राम बिंबिसार को पहले ही मिल चुका था, अंग-विजय के बाद उसकी राज्य सीमा अत्यंत विस्तृत हो गई। महावग्ग के अनुसार बिंबिसार के साम्राज्य में 80,000 गाँव थे और उसका विस्तार 300 योजन (लगभग 100 मील) था।

4.1.4.1.4. शासन – बिंबिसार न केवल एक साम्राज्य निर्माता, अपितु एक कुशल शासक भी था। शासन संचालन में सहायता के लिए उसने अनेक पदाधिकारियों की नियुक्ति की थी, जिन्हें महामात्र कहा जाता था। बौद्ध साहित्य में उसके कुछ पदाधिकारियों के नाम सर्वाथक (Sabbatthaka) महामात्र, व्यावहारिक (Voharika) महामात्र, सेनानायक (Senanayaka) महामात्र आदि बताए गए हैं। इनके अतिरिक्त उपराजा, माण्डलिक राजा, सेनापति, ग्राम-भोजक (Grama-bhojak) आदि के भी नाम मिलते हैं। बिंबिसार की न्याय व्यवस्था बहुत कठोर थी। अपराधियों को अंगभंग, कोड़े लगाना, मृत्युदंड आदि कठोर दंड दिए जाते थे। साथ

ही योग्य पदाधिकारियों को पुरस्कार देने की व्यवस्था भी थी। वह एक महान निर्माता भी था। राजगृह का निर्माण भी बिंबिसार ने ही करवाया था।

धार्मिक दृष्टि से बिंबिसार गौतम बुद्ध से बहुत प्रभावित था और उसने बाद में बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था, किंतु वह जैन धर्म एवं ब्राह्मण धर्म का भी सम्मान करता था।

महावंश के अनुसार बिंबिसार ने 52 वर्षों तक राज किया था। उसके उपरांत उसे बंदी बनाकर उसके पुत्र अजातशत्रु ने उससे मगध का सिंहासन छीन लिया और 492 ई.पू. के लगभग बंदीगृह में ही बिंबिसार की दुःखद मृत्यु हो गई।

4.1.4.2. अजातशत्रु (492 ई.पू. से 460 ई.पू.) – बिंबिसार के पश्चात् अजातशत्रु मगध का राजा बना। वह साम्राज्यवादी था, उसने अपने सफल युद्धों के परिणामस्वरूप मगध राज्य को शक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। सिंहासन पर बैठते ही सर्वप्रथम युद्ध कोसल के साथ हुआ। यह युद्ध बिंबिसार और कोसलदेवी की मृत्यु के पश्चात् काशी के प्रश्न पर हुआ था। कोसलाधीश प्रसेनजीत ने अपने बहनोई बिंबिसार की हत्या के कारण क्रुद्ध होकर उपहास्वरूप दिए गए काशी ग्राम को मगध से वापस ले लिया। अंततोगत्वा प्रसेनजीत ने अजातशत्रु के साथ संधि कर ली, अपनी पुत्री वाजिरा का विवाह उसके साथ कर दिया और काशी ग्राम दहेज के रूप में फिर उसे दे दिया।

अजातशत्रु का दूसरा युद्ध वैशाली के लिच्छिवियों से हुआ। वैशाली वज्जिसंघ का एक शक्तिशाली गणराज्य था। साहित्यिक साक्ष्यों में इस युद्ध का मूल कारण लिच्छिवियों को बताया गया है। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार गंगा के किनारे रत्नों की खान थी जिसके कारण लिच्छिवियों से युद्ध हुआ परंतु जैन साक्ष्यों के अनुसार इस युद्ध का कारण बिंबिसार के वैशाली की लिच्छवि राजकुमारी से उत्पन्न दो पुत्र हल्ल और वेहल्ल थे। बिंबिसार ने इन्हें अपना प्रसिद्ध हाथी सेचनक (Sechanaka) और अपनी एक बहुमूल्य मुक्तामाला उपहार रूप में दिए थे, परंतु राजा होते ही अजातशत्रु ने इन्हें वापस माँगा। हल्ल और वेहल्ल इन दोनों वस्तुओं को लेकर अपने नाना लिच्छवि नरेश चेतक के पास वैशाली चले गए। अजातशत्रु इन वस्तुओं को वापस चाहता था अतः उसने लिच्छवियों से युद्ध किया। इस समय तक लिच्छवि बहुत शक्तिशाली हो गए थे, अतः उन्हें हराना बहुत आसान नहीं था। अतः अजातशत्रु ने कूटनीति का सहारा लिया और अपने मंत्री वत्सकार को वैशाली में लिच्छवियों में फूट डालने के लिए भेज दिया। वत्सकार ने जनता के बीच ऊँच-नीच का भेदभाव पैदा कर उनकी प्राचीन एकता की भावना को समाप्त कर दिया। इसके साथ ही अजातशत्रु ने वैशाली पर आक्रमण करने के लिए पाटलिपुत्र में एक नवीन दुर्ग का निर्माण भी करवाया, क्योंकि उसकी राजधानी राजगृह वैशाली से बहुत दूर थी। इस प्रकार पूरी तैयारी के साथ अजातशत्रु ने वैशाली पर आक्रमण किया और लिच्छवि, जो आंतरिक टूट-फूट के कारण तितर-बितर हो चुके थे, शीघ्र परास्त हो गए। इस युद्ध में अजातशत्रु ने पहली बार महाशिलाकण्टक (Mahasilakantaka) तथा रथमुसल (Ratha-Musala) नामक दो भयानक अस्त्रों का प्रयोग किया था। लिच्छवियों पर विजय के साथ ही मल्ल, विदेह आदि छोटे गणराज्य भी मगध में सम्मिलित हो गए। साहित्यिक साक्ष्यों के अनुसार लिच्छवि नरेश ने अपनी सहायता के लिए काशी और कोसल राजाओं को भी आमंत्रित किया था, परंतु अजातशत्रु ने अपनी प्रबल वीरता और कूटनीति के कारण इन सबको परास्त कर दिया था। वैशाली, काशी, अंग विजय के पश्चात् अजातशत्रु ने साम्राज्य विस्तार के लिए तीसरा कदम उठाया। उसको एकमात्र खतरा अवन्ति राज्य से ही रह गया था।

अवन्ति नरेश चंड प्रद्योत अजातशत्रु का प्रतिद्वंदी था, किंतु वत्सराज उदयन का विवाह अजातशत्रु की पुत्री पद्मावती से हुआ था और वत्सराज ने संभवतः चंड प्रद्योत एवं अजातशत्रु के बीच समझौता करा दिया था। अतः दोनों के बीच प्रत्यक्ष संघर्ष की स्थिति उत्पन्न नहीं हो पाई। इस प्रकार अजातशत्रु के काल में मगध ने एक सर्वोच्च सत्ता का रूप ले लिया था। उसका साम्राज्य पूर्व में बिहार तक, उत्तर में हिमालय की तलहटी तक और पश्चिम में काशी तक विस्तृत था।

धार्मिक दृष्टि से बौद्ध तथा जैन दोनों ही धर्मों के ग्रंथ अजातशत्रु को अपने-अपने धर्म का पोषक मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले अजातशत्रु संभवतः जैन मतावलंबी था, किंतु पिता की हत्या के बाद मन अशांत होने पर वह गौतम बुद्ध के संपर्क में आया और उनकी शिक्षाओं से प्रभावित होकर उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। उसने अनेक बौद्ध विहारों का पुनर्निर्माण करवाया था और गौतम बुद्ध की मृत्यु के उपरांत उनके अवशेषों पर एक स्तूप का निर्माण भी करवाया था। इसी के काल में प्रथम बौद्ध संगीति हुई थी और बुद्ध के उपदेशों को सुत्तपिटक और विनयपिटक के रूप में लिपिबद्ध किया गया था। बौद्ध ग्रंथों में अजातशत्रु का शासनकाल 32 वर्ष बताया गया है।

4.1.4.3. उदायिन् (460 ई.पू. से 444 ई.पू.) – अजातशत्रु के पश्चात् उनका रानी पद्मावती से उत्पन्न पुत्र उदायिन् अथवा उदयभद सिंहासनारूढ़ हुआ। बौद्ध ग्रंथों में इसे पितृहंता कहा गया है, किंतु जैन-ग्रंथ परिशिष्टपर्वन के अनुसार यह चंपा का राज्यपाल और अपने पिता का श्रद्धालु पुत्र था। इसने पाटलिपुत्र नगर का निर्माण कराकर अपनी राजधानी को राजगृह से पाटलिपुत्र स्थानांतरित किया था। अवन्ति के साथ मगध की प्रतिद्वंद्विता उदायिन् के काल में भी चल रही थी। चंड प्रद्योत के पुत्र पालक ने उदायिन् की हत्या करवा दी थी। उदायिन् जैन धर्मावलंबी था और उसने अपनी राजधानी में एक जैन चैत्यगृह का निर्माण करवाया था। इसके पश्चात् मगध का उत्तराधिकारक्रम असंदिग्ध रूप से निश्चित नहीं किया जा सकता। बौद्ध ग्रंथों में उदायिन् के बाद अनिरुद्ध, मुण्ड तथा दर्शक नामक तीन मगध नरेशों के नाम मिलते हैं। कदाचित् अंतिम शासक दर्शक अयोग्य था अतः मौका पाकर जनता ने उसको पदच्युत कर मगध की सत्ता एक योग्य अमात्य शिशुनाग के हाथों में सौंप दी।

4.1.4.4. शिशुनाग (412 ई.पू. से 394 ई.पू.) – बौद्ध ग्रंथों से ज्ञात होता है कि मगध में बिंबिसार वंश के बाद शिशुनाग वंश ने शासन किया। बिंबिसार और अजातशत्रु के समान शिशुनाग भी मगध का एक योग्य शासक था। इसने अवन्ति के प्रद्योत-वंशी शासक अवन्तिवर्धन का अंत कर अवन्ति को भी मगध साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। इसने गिरिव्रज को अपनी राजधानी बनाया तथा काशी का प्रतिनिधित्व अपने पुत्र कालाशोक को सौंप दिया। इसके समय तक वत्स और कोसल भी पूर्णतया मगध साम्राज्य में सम्मिलित हो गए थे। अतः शिशुनाग के काल में मगध वास्तव में उत्तर भारत की सर्वोच्च शक्ति बन गया था। शिशुनाग ने 18 वर्ष शासन किया, उसके उपरांत उसका पुत्र कालाशोक मगध के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ।

4.1.4.5. कालाशोक (394 ई.पू. से 366 ई.पू.) – पुराणों में कालाशोक का वर्णन काकवर्ण के नाम से किया गया है। इसने पाटलिपुत्र को फिर से मगध की राजधानी बनाया। इसके काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी – द्वितीय बौद्ध संगीति। इसमें बौद्ध संप्रदाय दो संप्रदायों – स्थविर (Sthaviras) और महासांघिक

(Mahasamghikas) में बँट गया। स्थविर परंपरागत नियमों में आस्था रखते थे और महासंघिकों ने बौद्ध धर्म में कुछ नए नियमों को समाविष्ट किया था। बौद्ध सूत्रों के अनुसार कालाशोक ने 28 वर्षों तक राज्य किया। इसके उपरांत किसी ने धोखे से इसके गले में छूरा भोंक कर इसकी हत्या कर दी थी। बौद्ध साहित्य के अनुसार कालाशोक के पश्चात् उसके दस पुत्रों ने सम्मिलित रूप से 22 वर्ष तक राज्य किया। इनके पश्चात् शिशुनाग वंश की समाप्ति हो गई और नंदवंश का राज्य प्रारंभ हुआ।

4.1.4.6. महापद्मनंद (344 ई.पू. से 322 ई.पू.) – शिशुनागवंश के उपरांत मगध पर जिस नए राज्यवंश की स्थापना हुई, वह था 'नंदवंश'। साहित्यिक-साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि नंदवंश का संस्थापक महापद्मनंद उग्रसेन संभवतः निम्न जाति का व्यक्ति था। पुराणों में इसे स्पष्टतः 'शुद्रागर्भोद्भव' अर्थात 'शूद्र स्त्री के गर्भ से उत्पन्न' कहा गया है। जैन ग्रंथ में इसे नापित पुत्र (नाई का पुत्र) कहा गया है। बौद्ध ग्रंथ महावंशटीका में नंदों को अज्ञात कुल का बताया गया है। सभी विवरणों से स्पष्ट है कि नंदवंश का संस्थापक नीचकुलोत्पन्न था।

नंदकाल विशाल मगध साम्राज्य की स्थापना का काल था। इसका शासन केवल राजनैतिक दृष्टि से ही नहीं अपितु सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी अत्यधिक महत्वपूर्ण था। राजनैतिक दृष्टि से महापद्मनंद ने एकच्छत्र राज्य की कल्पना को साकार किया था और अपने उत्तराधिकारियों को एक विशाल सेना, अकूत धन और व्यवस्थित शासन प्रणाली दी थी। सामाजिक दृष्टि से उसने यह स्पष्ट कर दिया था कि निम्न वर्ग के लोग भी अपनी योग्यता के बल पर शासन की ऊँचाइयों को छू सकते हैं। नंद-साम्राज्य आर्थिक रूप से भी अत्यधिक संपन्न था, जिसका सीधा प्रभाव तत्कालीन सांस्कृतिक विकास पर पड़ा और नंदयुग में पाटलिपुत्र शिक्षा एवं साहित्य का प्रमुख केंद्र बन गया। पाणिनि, कात्यायन, वररुचि आदि इस युग के ख्यातिनाम विद्वान थे। धार्मिक दृष्टि से नंद शासक जैन मतावलंबी थे। खारबेल के हाथी गुंफा अभिलेख के अनुसार नहर द्वारा सिंचाई करने की परंपरा का प्रारंभ भी नंदों ने किया था।

यद्यपि नंद शासन राजनीतिक दृष्टि से मगध के इतिहास का एक श्रेष्ठ शासन था किंतु इस वंश के शासक अत्यंत धनलोलुप व शोषक प्रवृत्ति के थे अतः उनका शासन दो पीढ़ियों से अधिक नहीं चल सका और शीघ्र ही चाणक्य के निर्देशन में चंद्रगुप्त मौर्य ने इस वंश का अंत कर दिया।

4.1.5. सारांश

छठी शताब्दी ई.पू. में भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। बौद्ध और जैन धर्म ग्रंथों में 16 महाजनपदों का उल्लेख मिलता है। वे थे अंग, मगध, काशी, कोसल, वज्जि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पंचाल, मत्स्य, शूरसेन, अस्सक, अवन्ति, गंधार एवं कंबोज। मगध राज्य का उत्कर्ष महात्मा बुद्ध के समकालीन प्रथम शासक बिंबिसार से प्रारंभ होता है। हर्यंक कुल के इस शासक ने अपनी शक्ति संवर्धन के लिए वैवाहिक संबंध स्थापित किए। वह एक साम्राज्य निर्माता तो था ही, अपितु एक कुशल शासक भी था। वह बौद्ध धर्म से प्रभावित था एवं आगे चलकर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। बिंबिसार के पश्चात् उसका पुत्र अजातशत्रु राजा बना। कोसल नरेश प्रसेनजीत की पुत्री के साथ उसका विवाह हुआ था। अपने काल में उसका युद्ध लिच्छिवियों के साथ हुआ। उसने वैशाली पर भी आक्रमण किया। अपने जीवन के अंतिम दिनों में उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। अजातशत्रु के पश्चात् उदायिन् सिंहासन पर बैठा। वह जैन धर्मावलंबी था। अंतिम

शासक इस वंश का अयोग्य नागदासक था। इसके पश्चात् शिशुनाग वंश ने शासन किया। उसके पश्चात् कालाशोक ने शासन किया। शिशुनाग वंश की समाप्ति के पश्चात् नंद वंश का उदय हुआ।

4.1.6. बोध प्रश्न

1. छठी शताब्दी ई.पू. में भारत की राजनीतिक स्थिति का वर्णन कीजिए।
2. छठी शताब्दी में मगध राज्य के उत्कर्ष के कारणों पर प्रकाश डालिए।
3. बिंबिसार के काल से लेकर नंदों के काल तक के बीच मगध के उत्थान का वर्णन कीजिए।

4.1.7. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1. वर्मा, दीनानाथ. (2002). प्राचीन भारत. नई दिल्ली : ज्ञानदा प्रकाशन।
2. पाण्डेय, विमल चन्द्र. (2002). प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास (भाग-1). इलाहाबाद : सेंट्रल पब्लिशिंग हाउस।
3. शर्मा, एल.पी. (2007), प्राचीन भारत. आगरा : लक्ष्मीनारायण अग्रवाल।
4. शर्मा, रामशरण, प्रारंभिक भारत का परिचय

खंड - 4 : महाजनपद से मौर्य साम्राज्य
इकाई -2 : मौर्य साम्राज्य

इकाई की रूपरेखा

4.2.1. उद्देश्य

4.2.2. प्रस्तावना

4.2.3. मौर्यकालीन इतिहास के साथ

- **4.2.3.1. यूनानी वृत्तांत**
- **4.2.3.2. कौटिल्य का अर्थशास्त्र**
- **4.2.3.3. विशाख दत्त का मुद्राराक्षस**
- **4.2.3.4. ब्राह्मण साहित्य**
- **4.2.3.5. बौद्ध एवं जैन साहित्य**
- **4.2.3.6. अभिलेख**

4.2.4. चंद्रगुप्त मौर्य

4.2.5. चंद्रगुप्त का उदय

4.2.6. सेल्यूकस के साथ संघर्ष

4.2.7. चंद्रगुप्त का शासन प्रबंध

- **4.2.7.1. राजा**
- **4.2.7.2. मंत्रिमंडल**
- **4.2.7.3. अमात्य मंडल**
- **4.2.7.4. प्रांतीय शासन**
- **4.2.7.5. नगरों का प्रबंध**
- **4.2.7.6. ग्राम्य शासन**
- **4.2.7.7. सेना का प्रबंध**
- **4.2.7.8. गुप्तचर विभाग**
- **4.2.7.9. न्याय और दंड विधान**
- **4.2.7.10. राजस्व**

4.2.8. लोकहितकारी कार्य एवं धर्म

4.2.9. बिंदुसार

4.2.10. सारांश

4.2.11. बोध प्रश्न

4.2.12. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

4.2.1. उद्देश्य

ई.पू. चौथी शताब्दी में भारत में महान मौर्य साम्राज्य का निर्माण हुआ। मौर्यकालीन इतिहास के स्रोत, चंद्रगुप्त मौर्य के जीवन, शासनकाल एवं उसके उत्तराधिकारियों के विषय में जानकारी देना इस इकाई का उद्देश्य है।

4.2.2. प्रस्तावना

भारतीय इतिहास में मौर्य साम्राज्य का विशेष महत्व है। मौर्य आगमन से भारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास में एक युग का अंत और दूसरे युग का प्रारंभ होता है। इसकी स्थापना के साथ अपेक्षाकृत एक निश्चित तिथिक्रम का प्रारंभ होता है। विद्वान वी.ए. स्मिथ के अनुसार मौर्य वंश के आरंभ से प्राचीन भारत का इतिहास अंधकार से प्रकाश में आ जाता है। चंद्रगुप्त मौर्य के सिंहासनारोहण की तिथि भारतीय इतिहास के काल-क्रम में एक ज्योतिर्मय स्तंभ है। इसके पश्चात् भारत का क्रमबद्ध इतिहास प्रारंभ हो जाता है। मौर्य काल में संपूर्ण उत्तरी भारत में राजनीतिक एकता की स्थापना के साथ ही सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित केंद्रीय शासन की स्थापना हो गई। जिसने भावी शासकों के लिए एक प्रकार से आदर्श स्थापित किया एवं आगामी प्रतिभाशाली शासकों ने भी उसको न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ अपनाया। इस काल में कला एवं साहित्य को भी प्रोत्साहन मिला। मौर्यकाल में बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार हुआ। अशोक ने शांति एवं प्रेम का संदेश देकर केवल भारत में ही नहीं, अपितु विश्व के इतिहास में अपना नाम अमर कर लिया। मौर्यवंश को भारतीय इतिहास में ऊँचा स्थान दिया जाता है।

4.2.3. मौर्यकालीन इतिहास के साधन

मौर्य इतिहास जानने के साधन बड़े ही ठोस तथा व्यापक हैं। इस काल के इतिहास को जानने के लिए धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य साधन भी, जैसे- ऐतिहासिक ग्रंथ, विदेशी विवरण, अभिलेख आदि प्राप्त हो जाते हैं।

4.2.3.1. यूनानी वृत्तांत– मौर्य इतिहास को जानने के लिए यूनानी स्रोत अत्यंत महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इस स्रोत के आधार पर चंद्रगुप्त मौर्य सिकंदर का समकालीन माना जाता है। इन स्रोतों से भारतीय इतिहास का क्रमबद्ध ज्ञान होता है। सिकंदर के साथी रचनाकारों के अतिरिक्त मेगास्थनीज़ की रचना 'इंडिका', इस काल की एक मुख्य स्रोत मानी जाती है। मेगास्थनीज़ एक यूनानी विद्वान था, जिसे सेल्यूकस ने चंद्रगुप्त मौर्य की राजसभा में अपना दूत बनाकर भेजा था। उसका वृत्तांत ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

4.2.3.2. कौटिल्य का अर्थशास्त्र– मौर्यकालीन इतिहास का अन्य महत्वपूर्ण साधन कौटिल्य का अर्थशास्त्र है। उसे विष्णुगुप्त और चाणक्य भी कहते हैं। कौटिल्य चंद्रगुप्त मौर्य का प्रधानमंत्री था। कौटिल्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र ऐतिहासिक एवं राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रंथ है, यह चंद्रगुप्त मौर्य के शासनकाल की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था का वर्णन करने के साथ ही आदर्श शासक की विवेचना भी करता है।

4.2.3.3. विशाखदत्त का मुद्राराक्षस– विशाखदत्त द्वारा पाँचवी शताब्दी में रचित 'मुद्राराक्षस' एक राजनीतिक नाटक है, जिससे मौर्यकाल के प्रारंभिक इतिहास की पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है, परंतु नाटक होने के कारण इसमें कल्पना का मिश्रण भी है, अतः इसे पूरे तौर पर विश्वसनीय नहीं माना जाता है।

4.2.3.4. ब्राह्मण साहित्य– ब्राह्मण साहित्यों के माध्यम से भी मौर्य काल के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। जिसमें मुख्य रूप से पुराण आते हैं, परंतु इसमें भी कल्पना और अतिशयोक्ति का समावेश होने के कारण इन पर अधिक विश्वास नहीं किया जाता।

4.2.3.5. बौद्ध एवं जैन साहित्य– बौद्ध परंपराएँ मौर्य वंश पर काफी प्रकाश डालती हैं। बौद्ध ग्रंथ 'दिव्यावदान' में अशोक का वर्णन मिलता है, इसी प्रकार 'महावंश' एवं 'महापरिनिब्बान सुत्त' से भी मौर्य काल के संबंध में जानकारी प्राप्त होती है। इसी प्रकार जैन साहित्य द्वारा भी चंद्रगुप्त मौर्य के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

4.2.3.6. अभिलेख– मौर्यकालीन इतिहास की जानकारी के लिए एक अन्य विश्वस्त स्रोत अशोक के अभिलेख हैं। अशोक ने अपने राज्य के विभिन्न भागों में कई शिलालेख, स्तंभलेख तथा अन्य स्मारक चिह्नों का निर्माण किया था, जिसमें उसने बौद्ध धर्म के सिद्धांत, पवित्रता पर चलने के नियम बताए थे। इसके अतिरिक्त उसके राज्यविस्तार, जनहितकारी कार्य, राजस्व के सिद्धांत आदि का भी वर्णन मिलता है। ऐतिहासिक दृष्टि से अशोक के अभिलेख अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

4.2.4. चंद्रगुप्त मौर्य

चंद्रगुप्त मौर्यवंश का संस्थापक था। इस प्रतिभाशाली सम्राट की वंश परंपरा के संबंध में विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद है। चंद्रगुप्त के पूर्व वृत्तांत के संबंध में प्राचीन साहित्यों में मुख्यतः निम्न मत पाए जाते हैं –

1. नंदवंश के राजा की एक पत्नी का नाम मुरा था। वह जाति से शूद्र थी। इसी से चंद्रगुप्त का जन्म हुआ। मुरा का पुत्र होने के कारण ही वह 'मौर्य' कहलाया।
2. दूसरा मत कथासरित्सागर में उपलब्ध होता है। इसके अनुसार चंद्रगुप्त नंद राजा का ही पुत्र था, और उसके अन्य कोई संतान नहीं थी।
3. चंद्रगुप्त के विषय में तीसरा मत महावंश में पाया जाता है। इसके अनुसार चंद्रगुप्त पिप्पलिवन के मोरिय गण का कुमार था। नंद के साथ उसका कोई संबंध नहीं था। मोरिय गण वज्जिमहाजनपद के पड़ोस में स्थित था।

4.2.5. चंद्रगुप्त का उदय

बौद्ध अनुश्रुतियों का सहारा चंद्रगुप्त मौर्य के जीवन पर प्रकाश डालने के लिए लिया जाता है, जिसके अनुसार चंद्रगुप्त के पिता ने उनकी माँ को असहाय अवस्था में छोड़ दिया था। उन्होंने पाटलिपुत्र में जाकर आश्रय लिया और वहाँ एक बालक को जन्म दिया, जिसे चरवाहे ने पाला। चरवाहे ने बाद में उसे एक

शिकारी के हाथों बेच दिया। चंद्रगुप्त इस शिकारी के यहाँ रहते हुए गाँव के बच्चों से मिलकर राजसी खेल खेला करता था। एक दिन इसी प्रकार राजा बन कर वह जनता से न्याय करने का अभिनय कर रहा था। उसी समय चाणक्य उस मार्ग से गुजर रहा था, वह दूर खड़ा रह कर सारा खेले देख रहा था। वह चंद्रगुप्त की सहज प्रतिभा से अत्यंत प्रभावित हुआ। उसने चंद्रगुप्त को शिकारी से मोल ले लिया। इसके बाद चाणक्य उसे तक्षशिला ले गया और थोड़े ही समय में उसे आवश्यक शिक्षाओं से संपन्न कर दिया।

चाणक्य तक्षशिला के प्रसिद्ध आचार्य थे, वे वेदों के ज्ञाता, शास्त्र पारंगत, मंत्रविद्या में निपुण थे। वे एक बार तक्षशिला से पाटलिपुत्र आए, उन्हें आशा थी कि मगध का प्रतापी सम्राट धनानंद उनका सम्मान करेगा। धनानंद ने चाणक्य का अपमान किया तो उन्होंने प्रतिज्ञा ली कि वह नंद वंश का नाश कर डालेगा। चाणक्य ने जो प्रतिज्ञा सबके सामने की थी, उसे पूरा करने में वे पूरी शक्ति के साथ लग गए। इस कार्य में चंद्रगुप्त उसका प्रधान सहायक था।

महावंश की कथा के अनुसार चाणक्य और चंद्रगुप्त ने नंदवंश का नाश करने के उद्देश्य से पहले मगध के नगरों और ग्रामों पर आक्रमण करना शुरु कर दिया था। पर इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। फिर वे मगध साम्राज्य के सीमांत पर गए और वहाँ की राजनीतिक परिस्थिति से लाभ उठाकर उन्होंने पश्चिमी भारत को सिकंदर की अधीनता से मुक्त किया। 323 ई.पू. में सिकंदर की मृत्यु हो गई थी और पंजाब में यवन-शासन के विरुद्ध विद्रोह शुरु हो गया था। चाणक्य और चंद्रगुप्त इस विद्रोह के नेता थे। पंजाब और पश्चिमी भारत को यवनों की अधीनता से मुक्त कर चाणक्य और चंद्रगुप्त ने उन्हें एक शासनसूत्र में संगठित किया और फिर भारत के इस सीमांत की सेना की सहायता से मगध साम्राज्य को अपने अधीन किया। नंद को मारकर चंद्रगुप्त स्वयं मगध के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ और इस प्रकार उसने संपूर्ण उत्तरी भारत में एक साम्राज्य की स्थापना की। 321 ई.पू. में चंद्रगुप्त मगध के सिंहासन पर आसीन हुआ।

4.2.6. सेल्यूकस के साथ संघर्ष

चंद्रगुप्त का अंतिम संघर्ष सिकंदर के सेनापति सेल्यूकस के साथ हुआ। जिस समय चंद्रगुप्त भारत को विजय करने में लगा हुआ था उसी समय पश्चिम एशिया में सेल्यूकस भारत पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा था। सेल्यूकस सिकंदर के उन सेनानायकों में था, जिन्होंने उसकी मृत्यु के बाद उसके साम्राज्य को आपस में बाँट लिया था। उसने सिकंदर का अनुकरण करते हुए 305 ई.पू. में भारत पर आक्रमण कर दिया। इधर चंद्रगुप्त भी सावधान था, सिंध के तट पर दोनों सेनाओं में घनघोर युद्ध हुआ। सेल्यूकस पराजित हुआ और उसे चंद्रगुप्त के साथ संधि करनी पड़ी। इस संधि की चार शर्तें थीं –

1. वर्तमान अफगानिस्तान तथा बलुचिस्तान का संपूर्ण प्रदेश सेल्यूकस ने चंद्रगुप्त को दे दिया।
2. सेल्यूकस ने अपनी कन्या का विवाह चंद्रगुप्त के साथ कर दिया।
3. चंद्रगुप्त ने पाँच सौ हाथी उपहार के रूप में सेल्यूकस को भेंट किए।
4. एक यूनानी राजदूत मेगास्थनीज़ पाटलिपुत्र में आया।

चंद्रगुप्त की इस विजय का एक अत्यंत महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि उत्तर पश्चिम में चंद्रगुप्त के साम्राज्य की एक निश्चित भौगोलिक सीमा निर्धारित हो गई। इसके फलस्वरूप चंद्रगुप्त का राज्य काफी विस्तृत हो गया। उसका विशाल साम्राज्य उत्तर में कश्मीर से लेकर दक्षिण में मैसूर तक तथा पूर्व में कामरूप से लेकर पश्चिम में हिरात, काबुल, कंधार, बलुचिस्तान तक फैला हुआ था। उसके साम्राज्य की सीमाएँ हिन्दूकुश पर्वत

के पश्चिम में दूर तक फैली हुई फारस की सीमा को स्पर्श कर रही थीं। इससे पहले भारत में इतना बड़ा साम्राज्य किसी राजा ने कायम नहीं किया था।

4.2.7. चंद्रगुप्त का शासन प्रबंध

चंद्रगुप्त एक महान विजेता ही नहीं अपितु एक योग्य शासक भी था। उसे चाणक्य जैसे राजनीतिज्ञ का सहयोग भी प्राप्त था। इन दोनों ने मिलकर एक उच्च कोटि की अत्यंत सुव्यवस्थित शासन व्यवस्था की और ये आगे के सम्राटों के लिए अनुकरणीय बनी रही। चंद्रगुप्त के शासन प्रबंध का ज्ञान हमें कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' एवं मेगास्थनीज़ की 'इंडिका' से प्राप्त होता है। इन स्रोतों से उस समय के राजनीतिक सिद्धांत, राज्य और राजा के अधिकार तथा कर्तव्य, जनजीवन और विभिन्न राज्यों के पारस्परिक संबंधों आदि का भी ज्ञान प्राप्त होता है।

4.2.7.1. राजा– राजा राज्य का प्रधान था। वह प्रधान सेनापति, प्रधान न्यायाधीश और प्रधान दंडाधिकारी होता था। युद्ध संचालन व न्यायकार्य उसके प्रधान कार्य थे। उसका अधिकार वंशानुगत था और कानूनतः उसके अधिकारों की कोई सीमा न थी। परंतु व्यावहारिक दृष्टि से मौर्य सम्राट स्वेच्छाधारी नहीं थे। राजा के कर्तव्यों और आदर्शों का प्रतिपादन किया जाता था और राजा उन्हीं आदर्शों पर चलने का प्रयत्न करते थे। राजा का मुख्य उत्तरदायित्व अपने प्रजा की रक्षा और भलाई करना था। वह प्रजा का शोषक न होकर उनका पोषक था। संक्षेप में, उसके शासन में उदारता, न्याय और निरंकुशता का समुचित समन्वय था। अर्थशास्त्र के अनुसार, 'राजा का जो शील होता है, वही प्रजा का भी होता है।'

4.2.7.2. मंत्रिमंडल– सम्राट का अकेले इतने बड़े साम्राज्य का संचालन करना संभव नहीं था, अतएव उसकी सहायता के लिए मंत्रियों की एक समिति होती थी, जो मंत्रिपरिषद कहलाती थी। मंत्रियों के परामर्श से ही संपूर्ण राज्य का शासन संचालन होता था। मंत्री परिषद के परामर्शों को मानना या न मानना राजा के ऊपर निर्भर करता था। मंत्री का वेतन 48000 पण होता था। समस्त उच्च पदाधिकारी इन्हीं मंत्रियों की सम्मति से नियुक्त होते थे।

4.2.7.3. अमात्य मंडल– मंत्रिपरिषद के मंत्रियों के अतिरिक्त अमात्यों का एक अलग वर्ग होता था। शासन की सुविधा के लिए केंद्रीय शासन कई भागों में विभक्त था, जिसको 'तीर्थ' कहते थे। प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष 'अमात्य' कहलाता था। केंद्रीय शासन में कुल अठारह विभाग थे। इनके नाम इस प्रकार हैं –
(1) पुरोहित (2) मंत्री (3) सेनापति (4) दंडपाल अर्थात् पुलिस का प्रधान (5) दौवारिक अथवा द्वारपाल (6) युवराज (7) दुर्गपाल अथवा गृह अधिकारी (8) अन्तपाल अर्थात् सीमारक्षाधिकारी (9) अन्तर विंसक अथवा अंत:पुर रक्षाधिकारी (10) सन्निधात्री, अर्थात् राजकोष, अस्त्रागार और कोष्ठागार का अधिकारी (11) प्रशास्तृ अर्थात् कारागार का अधिकारी (12) समाहर्त्ता अर्थात् राज्य की संपत्ति एवं आय-व्यय का अधिकारी (13) नायक अर्थात् नगर रक्षक (14) प्रदेष्टा अर्थात् कमिश्नर (15) व्यवहारिक अर्थात् प्रधान न्यायाधीश (16) पौर अर्थात् कोतवाल (17) मंत्रिमंडलाध्यक्ष तथा (18) कर्मान्तिक अर्थात् कारखानों का अधिकारी।

उपर्युक्त विभागों के पदाधिकारियों के अतिरिक्त कुछ अन्य पदाधिकारी भी थे, जो निम्न विभागों के अध्यक्ष थे, जैसे– कोष आकर (खान), लौह (धातुएँ), लक्षण (टकसाल), लवण, सुवर्ण, कोष्ठागार (भंडार), पण्य (राजकीय व्यवसाय), कुप्य (वन विभाग), आयुधागार (शस्त्रालय), पोतव (बटरवारे), शुल्क, सूत्र (कताई बुनाई), मुद्रा (पासपोर्ट), बंधनागार (जेल), गौ (मवेशी), गणिका संस्था (व्यापार), अश्व, हस्ति, रथ विभाग आदि।

4.2.7.4. प्रांतीय शासन

चंद्रगुप्त एक विशाल साम्राज्य का शासक था। अतएव शासन की सुविधा के लिए साम्राज्य अनेक प्रांतों में विभक्त कर दिया गया था। इस समय संभवतः पाँच, छह मुख्य प्रांत रहे होंगे। पहला प्रांत उत्तरापथ का था, जिसकी राजधानी तक्षशिला थी। दूसरा प्रांत अवन्ति था, जहाँ की राजधानी उज्जयिनी थी, तीसरा प्रांत दक्षिणपथ था, जिसकी राजधानी सुवर्णगिरि थी, चौथा कलिंग, जिसकी राजधानी तोसली थी। पाँचवा प्रांत प्राची कहलाता था, जिसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। अनुमानतः सुदूरस्थ प्रांतों के लिए राजकुमारों को प्रबंध के लिए नियुक्त किया गया था। प्रांत में अनेक छोटी इकाइयाँ थीं, जैसे -

1. स्थानिक – 800 ग्रामों का समूह
2. द्रोणमुख – 400 ग्रामों का समूह
3. खार्वरिक – 200 ग्रामों का समूह
4. संग्रहण – 100 ग्रामों का समूह
5. ग्राम

4.2.7.5. नगरों का प्रबंध

चंद्रगुप्त की शासन व्यवस्था में राज्य की संपूर्ण शक्ति का केंद्र राजा था। केंद्रीय शासन, प्रांतीय शासन के साथ ही नगरीय शासन का भी बहुत महत्व था। मेगास्थनीज़ ने पाटलिपुत्र का प्रबंध करने वाली छह समितियों का उल्लेख किया है। अर्थशास्त्र में इस बोर्ड का उल्लेख न होकर नगराध्यक्ष का उल्लेख मिलता है। मेगास्थनीज़ के अनुसार तीस अध्यक्षों का एक आयोग था, इस आयोग को पाँच-पाँच सदस्यों की छह समितियों में बाँटा गया था। हर समिति के अलग-अलग काम थे।

(1) शिल्पकला समिति– इसका कार्य औद्योगिक तथा शिल्प संबंधी कार्यों का निरीक्षण करना था। यह समिति कलाकारों, शिल्पकारों का पारिश्रमिक भी तय करती थी। वह उत्पादन की शुद्धता के लिए भी कटिबद्ध थी।

(2) वैदेशिक समिति– इसका कार्य विदेशियों का सत्कार करना था, साथ ही उनकी सुरक्षा का भी भार था। विदेशियों के आवागमन, उनके निवासस्थान, उनकी औषधि आदि का प्रबंध करना भी इस समिति का कार्य था। विदेशियों की मृत्यु के पश्चात् उनकी अंतिम क्रिया तथा उनके धन संपत्ति को उचित उत्तराधिकारियों को देने का कार्य भी इसी समिति का था।

(3) जनसंख्या समिति– इसका कार्य जन्म मृत्यु का लेखाजोखा रखना था।

(4) वाणिज्य व्यवसाय समिति– इसका कार्य क्रय-विक्रय के नियमों का निर्धारण करना था। भार और माप के परिमाणों को निश्चित करना, व्यापारी लोग उनका शुद्धता के साथ उपयोग करते हैं, इसका निरीक्षण करना भी इसका कार्य था।

(5) वस्तु निरीक्षक समिति– इसका कार्य वस्तुओं के उत्पादन की देखरेख करना था। उत्पादन का निरीक्षण करना, औद्योगिक उत्पादन में मिलावट की जाँच करना आदि इस समिति के मुख्य कार्य थे। नई और पुरानी चीज़ों को मिलाकर बेचना भी कानून के विरुद्ध था।

(6) कर समिति– इसका कार्य क्रय-विक्रय पर टैक्स वसूल करना था। कर से बचने का प्रयत्न करने पर दंडित किया जाता था।

मेगास्थनीज़ के इस विवरण से स्पष्ट है कि चंद्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में पाटलिपुत्र का शासन तीस नागरिकों की एक सभा के हाथ में था। संभवतः यही प्राचीन पौरसभा थी।

4.2.7.6. ग्राम्य शासन– जनपदों में बहुत से ग्राम सम्मिलित होते थे और प्रत्येक ग्राम शासन की दृष्टि से स्वतंत्र सत्ता रखता था। ग्राम का प्रमुख 'ग्रामिक' कहलाता था, उसे ग्रामवासी ही चुनते थे। ग्रामिक पंचायत के सदस्यों की मदद से न्याय भी देता था। लगभग दस ग्रामों के ऊपर एक 'गोप' होता था। कई 'गोप' के ऊपर एक 'स्थानिक' होता था। इनके ऊपर संपूर्ण जनपद का अधिकारी 'समाहर्ता' होता था।

4.2.7.7. सेना का प्रबंध– साम्राज्य की सुरक्षा के लिए चंद्रगुप्त ने एक विशाल सेना का संगठन भी किया था। उसने एक चतुरंगिणी अर्थात् हाथी, घोड़ा, रथ तथा पैदल सेना का संगठन किया और उसकी शिक्षा की समुचित व्यवस्था की। राजा स्वयं प्रधान सेनापति होता था, युद्ध स्थल में युद्ध का संचालन करता था। संपूर्ण सेना के प्रबंध के लिए तीस सदस्यों की एक समिति होती थी। सेना का प्रबंध छह भागों में विभक्त और प्रत्येक विभाग का प्रबंध पाँच सदस्यों के हाथ में रहता था। प्रत्येक विभाग का एक अध्यक्ष होता था। पहला विभाग जल सेना का प्रबंध करता था, दूसरा विभाग सेना को हर प्रकार की सामग्री तथा रसद भेजने का प्रबंध करता था। तीसरा विभाग पैदल सेना, चौथा अश्वरोहियों, पाँचवा हाथियों की सेना और छठा रथ सेना का प्रबंध करता था। सेना के साथ एक चिकित्सा विभाग भी होता था, जो घायल तथा रुग्ण सैनिकों की चिकित्सा करता था।

4.2.7.8. गुप्तचर विभाग– मौर्य-शासकों की गुप्तचर-व्यवस्था बहुत श्रेष्ठ थी। गुप्तचर दो प्रकार के थे– प्रथम, 'संस्था' जो एक ही स्थान पर रहते हुए वेश बदलकर सूचनाएँ एकत्रित करते थे। द्वितीय, 'संचार' जो घूम-घूमकर सूचनाएँ एकत्रित करते थे। राज्य के विभिन्न भागों से सभी सूचनाएँ सम्राट के पास पहुँचाई जाती थीं। सम्राट के गुप्तचरों के अतिरिक्त राज्य के सभी प्रमुख अधिकारी अपने-अपने गुप्तचरों की नियुक्ति करते थे।

4.2.7.9. न्याय और दंड विधान – साम्राज्य का सर्वोच्च अधिकारी राजा था। मौर्य शासकों की दंड व्यवस्था कठोर थी। साधारण अपराधों के लिए जुर्माना किया जाता था और बड़े अपराधों के लिए अंगभंग और मृत्युदंड। इस कठोर दंड व्यवस्था के कारण अपराध कम होते थे।

न्यायालय दो प्रकार के होते थे – केंद्रीय और स्थानीय। केंद्रीय न्यायालयों में दो न्यायालय थे – एक स्वयं सम्राट का और दूसरा मुख्य न्यायाधीश का। स्थानीय न्यायालय तीन प्रकार के होते थे। नगरों के न्यायाधीश 'व्यावहारिक महामात्र' कहे जाते थे। न्यायालय दीवानी तथा फौजदारी होती थीं। दीवानी की अदालतें 'धर्मस्थीय' और फौजदारी की अदालतें 'कंटकशोधन' कहलाती थीं।

4.2.7.10. राजस्व– राज्य की आय का मुख्य साधन भूमिकर था। यूनानी लेखकों के अनुसार भूमि पर राजा का स्वामित्व होता था, वह किसी की व्यक्तिगत संपत्ति नहीं समझी जाती थी। साधारणतया उपज का छठा भाग राज्यकर के रूप में वसूला जाता था, उसे 'भाग' कहते थे।

राजकीय भूमि, चरागाहों तथा वनों से भी सरकार को अच्छी आय हो जाती थी। किसानों से सिंचाई कर भी वसूल किया जाता था। आयात और निर्यात, दोनों प्रकार की सामग्री पर कर लगाए जाते थे। आयात कर को 'प्रवेश्य' और निर्यात कर को 'निष्काम्य' कहते थे। राज्य की सीमाओं पर व्यापारियों को वहिशुल्क देना पड़ता था। खानों, नमक, शस्त्रनिर्माण, मादक द्रव्यों, जुआ, वेष्यावृत्ती आदि पर सरकार का एकाधिकार था और इन साधनों से काफी आमदनी होती थी। शिल्पियों, व्यापारियों आदि लोगों को लाइसेंस लेना पड़ता था और उसके लिए शुल्क देना पड़ता था। राजस्व विभाग का संचालक समाहर्ता था और उसके नीचे अनेक अध्यक्ष कार्य करते थे।

4.2.8. लोकहितकारी कार्य एवं धर्म

चंद्रगुप्त ने अपनी प्रजा को अधिक से अधिक सुविधा तथा सुख प्रदान करने का प्रयत्न किया था। इस दिशा में उसका पहला प्रशंसनीय कार्य यातायात की व्यवस्था करना था। उसने मार्गों का निर्माण करवाया, नागरिकों की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था की। नई सड़कों का निर्माण करवाया, पुरानी सड़कों की मरम्मत करवाई। चंद्रगुप्त ने सिंचाई का उचित प्रबंध किया, नहरों की खुदाई करवाई, कृषि की उन्नति के लिए चतुर्दिक प्रयास किए। चंद्रगुप्त ने सौराष्ट्र में सुदर्शन नामक एक झील का निर्माण करवाया था। उसने राज्य में अनेक चिकित्सालय खुलवाए, प्रजा के स्वास्थ्य की ओर ध्यान दिया जाता था। नगरों की स्वच्छता के लिए भी निरीक्षक रखे गए थे।

जैन लेखक हेमचन्द्र के अनुसार चंद्रगुप्त प्रारंभ में मिथ्यामतावलंबी व्यक्तियों का संरक्षक था। उसकी राजसभा में एक जटिलक मंत्री था। जटिलक संप्रदाय का उल्लेख बौद्ध ग्रंथों में मिलता है। उसकी बौद्ध धर्म में आस्था थी या नहीं, यह विश्वास से कहना कठिन है। जीवन के अंतिम चरण में वह जैन धर्मावलंबी हो गया था। वह धार्मिक सहिष्णुता का समर्थक था।

जैन अनुश्रुतियों के अनुसार चंद्रगुप्त ने महावीर स्वामी की शिष्यता ग्रहण कर ली थी। चौबीस वर्षों के शासन काल के उपरांत 298 ई.पू. में उसने संन्यास ग्रहण कर लिया था। वैराग्य उत्पन्न होने के कारण अपना राज्य अपने पुत्र बिंदुसार को सौंपकर वह कर्नाटक के पर्वतों की ओर चला गया और वहीं पर एक सच्चे जैन की भाँति अनशन करके अपने प्राण त्याग दिए। इस प्रकार मौर्य साम्राज्य के संस्थापक का अंत हुआ।

4.2.9. बिंदुसार

चंद्रगुप्त मौर्य के पश्चात् उसका पुत्र बिंदुसार 298 ई.पू. में सिंहासन पर बैठा। उसका शासनकाल भारतीय इतिहास में कोई विशेष महत्व नहीं रखता, इसका कारण यह भी है कि उसके समय के इतिहास के बारे में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। जैन और बौद्ध स्रोतों के अनुसार चंद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् भी कुछ समय के लिए चाणक्य जीवित रहा, अतः बिंदुसार के प्रारंभिक समय में उसी की नीति चलती रही।

बिंदुसार ने अपने पिता की दिग्विजय नीति का अनुसरण किया। उसने पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्रों के बीच की संपूर्ण भूमि पर आधिपत्य स्थापित किया। अनेक विद्वानों के अनुसार सम्राट चंद्रगुप्त के शासनकाल में ही पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्रों के बीच के विस्तृत क्षेत्र पर मौर्यों का आधिपत्य हो गया था। संभावना है कि इन नगरों में विद्रोह हो गया था, परंतु चाणक्य की नीति द्वारा इसका दमन कर दिया गया।

बौद्ध ग्रंथ दिव्यावदान के अनुसार उत्तरापथ की राजधानी तक्षशिला तथा उसके आसपास के प्रदेशों में बिंदुसार के शासनकाल में विद्रोह हुआ था। उस समय बिंदुसार का ज्येष्ठ पुत्र सुशीम वहाँ का प्रांतीय शासक था। सुशीम उस विद्रोह को दबाने में सफल नहीं हुआ, तब बिंदुसार ने उज्जयिनी के शासक अशोक को विद्रोह दबाने के लिए भेजा। अशोक ने तक्षशिला जाकर विद्रोह का दमन किया। इस विवरण से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि बिंदुसार अपने पिता से प्राप्त विशाल साम्राज्य की रक्षा करने में सफल रहा। चाहे उसने नवीन राज्य को विजित कर अपने साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार न भी किया हो, परंतु वह समस्त उत्तरी भारत के साथ-साथ दक्षिणी भारत का भी स्वामी था।

बिंदुसार ने अपने पैतृक साम्राज्य को अक्षुण्ण रखने के साथ ही अपने पिता द्वारा प्रतिपादित विदेशनीति का भी अनुसरण किया। उसके समय में सीरियन साम्राज्य का स्वामी अतिओकस सोटर प्रथम था, जो सेल्युकस का उत्तराधिकारी था। उसने मेगास्थनीज़ की जगह डायमेकस को अपना राजदूत बनाकर पाटलिपुत्र भेजा था। इसके बारे में यूनानी लेखकों ने चर्चा की है। इस काल में ही बिंदुसार एवं मिस्र के राजा के बीच मित्रवत संबंध की चर्चा भी मिलती है। इन सारी बातों से यह स्पष्ट होता है कि सम्राट बिंदुसार की नीति पड़ोसी राजाओं के साथ संपर्क बनाए रखने की थी।

पुराणों के अनुसार बिंदुसार ने 25 वर्ष तक राज्य किया। अतः उसका शासनकाल 298 ई.पू. से 272 ई.पू. तक रहा।

4.2.10. सारांश

चौथी शताब्दी ई.पू. में मौर्य वंश के शासकों ने एक विशाल, अद्वितीय साम्राज्य का निर्माण किया। मौर्यकालीन इतिहास के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध हैं। मेगास्थनीज द्वारा लिखित इंडिका, कौटिल्य द्वारा लिखित अर्थशास्त्र, विशाखदत्त द्वारा लिखित मुद्राराक्षस, इसके अतिरिक्त ब्राह्मण साहित्य व ग्रंथ, बौद्ध एवं जैन साहित्य आदि लिखित साक्ष्य के रूप में उपलब्ध हैं। इसके साथ ही उस काल के अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जो मौर्य साम्राज्य के बारे में जानकारी देने में सक्षम हैं। चंद्रगुप्त मौर्य इस महान वंश का संस्थापक था, उसके प्रारंभिक जीवन की पुष्ट जानकारी प्राप्त नहीं है। सेल्यूकस के साथ उसके संघर्ष ने उसके साम्राज्य की सीमा निश्चित कर दी। कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राज्य के सिद्धांत पर उसने सुदृढ़ शासन व्यवस्था गठित की। चंद्रगुप्त मौर्य के पश्चात् उसका पुत्र बिंदुसार सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने लगभग

अपने पिता की नीति का ही अनुसरण किया। उसने विदेशनीति भी अपने पिता द्वारा जो प्रतिपादित थी, उसे आगे बढ़ाया।

4.2.11. बोध प्रश्न

1. मौर्य वंश के इतिहास को जानने के स्रोतों की चर्चा कीजिए।
2. चंद्रगुप्त मौर्य के जीवन और उसकी उपलब्धियों का विवेचन कीजिए।
3. चंद्रगुप्त मौर्य के सैनिक और असैनिक शासन का वर्णन कीजिए।
4. चंद्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य-विस्तार और प्रशासन के बारे में आप क्या जानते है?
5. चंद्रगुप्त मौर्य केवल महान सेनानायक और विजेता ही नहीं वरन् एक महान प्रशासक भी था। उदाहरण के साथ इस कथन को सिद्ध कीजिए।
6. अर्थशास्त्र और मेगास्थनीज़ के विवरण के आधार पर चंद्रगुप्त मौर्य के शासनप्रबंध का उल्लेख कीजिए।
7. बिंदुसार के शासनकाल पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

4.2.12. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1. पाण्डेय, विमल चन्द्र. (2002). *प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास (भाग-1).* इलाहाबाद : सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस।
2. विद्यालंकार, सत्यकेतु. (1987). *प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन.* मसूरी : श्री सरस्वती सदन।
3. झा, द्विजेन्द्र नारायण, (1997), *प्राचीन भारत का इतिहास.* नई दिल्ली : हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय।
4. थापर, रोमिला, अशोक एवं मौर्य साम्राज्य का पतन

खंड - 4 : महाजनपद से मौर्य साम्राज्य
इकाई - 3 : अशोक और उसका धम्म

इकाई की रूपरेखा

4.3.1. उद्देश्य
4.3.2. प्रस्तावना
4.3.3. अशोक का प्रारंभिक जीवन
4.3.4. अशोक का साम्राज्य विस्तार
4.3.4.1. कलिंग युद्ध
4.3.5. अशोक का धम्म (धर्म)
4.3.5.1. अशोक के धर्म प्रचार के कार्य
4.3.5.2. तृतीय बौद्ध संगीति का आयोजन
4.3.5.3. विदेशों में धर्म प्रचार
4.3.5.4. अशोक की धर्मनीति का प्रभाव
4.3.6. सारांश
4.3.7. बोध प्रश्न
4.3.8. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

4.3.1. उद्देश्य

प्राचीन भारत के सम्राटों में अद्वितीय एवं महान सम्राट अशोक अपने विशाल साम्राज्य ही नहीं, अपितु चरित्र, आदर्श एवं 'धम्म' के कारण भी प्रसिद्ध है। अशोक के 'धम्म' एवं धर्म प्रचार पर प्रकाश डालना ही इस इकाई का उद्देश्य है।

4.3.2. प्रस्तावना

अशोक संसार के सबसे महान राजाओं में से एक है। साम्राज्य विस्तार, शासन व्यवस्था, प्रजावत्सलता, धर्म संरक्षता, हृदय उदारता - इन सभी दृष्टिकोणों से वह भारत के इतिहास में अद्वितीय माना जाता है। विश्व में विशाल साम्राज्य के धनी तो अनेक शासक मिल सकते हैं, किंतु विशाल साम्राज्य का सर्वश्रेष्ठ सम्राट होने के साथ-साथ सर्वश्रेष्ठ मानव होना, अपने में अनोखा संयोग हो जाता है, जिसके कारण अशोक भारतीय इतिहास का अद्वितीय सम्राट हो जाता है।

अशोक के प्रयत्न से भारतीय धर्म और संस्कृति का देश-विदेश में प्रचार होने में भी बहुत सहायता मिली थी। इस संबंध में हमें उसके कर्तृत्व का शिलालेखों, स्तंभलेखों व गुहालेखों से परिचय मिलता है। उसके महत्व का मुख्य कारण उसकी धर्म विजय की नीति है। साम्राज्य की पूरी शक्ति उसने धर्म विजय के लिए लगा दी। कलिंग विजय के दौरान युद्ध भूमि के दृश्य को देखकर अशोक के हृदय में विचार आया कि जिससे लोगों का इस प्रकार वध हो, वह विजय निरर्थक है। कलिंग में हुए जन-धन विनाश से पश्चाताप् करते

हुए उसने निश्चय किया कि वह अब किसी भी देश पर आक्रमण कर इस तरह से विजित होना नहीं चाहेगा। अपने पुत्रों-पौत्रों को भी यही आदेश दिया कि वे शस्त्रों द्वारा नए प्रदेशों की विजय न करें और जो धर्म द्वारा विजय हो, उसी को वास्तविक विजय समझें।

4.3.3. अशोक का प्रारंभिक जीवन

बिंदुसार का उत्तराधिकारी उसका पुत्र अशोक था। अशोक के जन्म तथा प्रारंभिक जीवन के संबंध में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। उसके पिता बिंदुसार की कई पत्नियाँ थीं। अशोक की माता के संबंध में भी इतिहासकारों में मतभेद है। दिव्यावदान में उल्लेख है कि अशोक की माता का नाम जनपदकल्याणी था। कहीं कहीं उसका नाम सुभद्रांगी भी आता है। कहते हैं कि वह चंपा के ब्राह्मण की पुत्री थी और परम सुंदरी थी। उसी से अशोक तथा विताशोक (Vitashoka) (तिष्य) नामक दो पुत्र हुए थे। सुशीम अशोक का सौतेला भाई था।

अशोक की शिक्षा अपने सहोदर भाई तिष्य तथा अन्य सौतेले भाईयों के साथ ही हुई थी। वह अन्य राजकुमारों से अधिक चुस्त, चालाक और योग्य था। सम्राट बिंदुसार ने अशोक को उज्जैन तथा बाद में तक्षशिला का कुमार (राज्यपाल) बनाया। तक्षशिला की जनता ने वहाँ के अमात्यों की दमनपूर्ण नीति से क्षुब्ध होकर उनके विरुद्ध विद्रोह कर दिया था।

अशोक, सम्राट बिंदुसार का द्वितीय पुत्र था। बिंदुसार के सबसे बड़े पुत्र का नाम सुमन अथवा सुशीम था। वह अशोक का सौतेला भाई था। बिंदुसार की दूसरी रानी से उत्पन्न हुए दो पुत्र अशोक और तिष्य थे। तिष्य का अन्य नाम विताशोक था। दिव्यावदान के संदर्भ के अनुसार अशोक को राजसिंहासन प्राप्ति के लिए अपने बड़े भाई के साथ संघर्ष करना पड़ा, जिसमें अशोक की अंततः विजय हुई एवं 269 ई. पू. में अपने पिता की मृत्यु के चार वर्ष के पश्चात् वह पाटलिपुत्र के सिंहासन पर विराजमान हुआ। इन चार वर्षों की निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं है। बौद्ध ग्रंथों में अशोक द्वारा अपने 99 भाइयों की हत्या की चर्चा की गई है। परंतु सूक्ष्मता से देखने पर यह जानकारी अतिशयोक्ति लगती है। इस विषय पर डॉ. भण्डारकर द्वारा यह मत प्रतिपादित किया गया है कि सुशीम बिंदुसार का ज्येष्ठ पुत्र था, अशोक अत्यंत ही महत्वाकांक्षी था। अतः सिंहासन प्राप्त करने के लिए उसे अपने बड़े भाई से संघर्षकरना पड़ा। इसी युद्ध के कारण उसका राज्यभिषेक बिंदुसार की मृत्यु के चार वर्ष उपरांत संभव हुआ होगा। यह मत सत्य के निकट प्रतीत होता है।

4.3.4. अशोक का साम्राज्य विस्तार

सम्राट बिंदुसार की मृत्यु के बाद गृहकलह में सफल होकर अशोक एक बहुत बड़े साम्राज्य का अधिपति बन गया था। जो पूर्व में बंगाल की खाड़ी से शुरु होकर पश्चिम में हिंदुकुश पर्वतमाला से भी परे तक फैला हुआ था। दक्षिण में भी तमिल देशों तक मगध का साम्राज्य विस्तृत था। अशोक ने सम्राट बनने के बाद अपने पूर्वजों की भाँति साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया और साथ ही कुछ देशों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध कायम रखने की नीति का भी पालन किया। उसने यवन राज्यों में अपने राजदूत भेजे और उनके राजदूतों का स्वागत किया। उसने यवन पदाधिकारियों को अपने राज्य में नियुक्त किया। आंतरिक नीति के क्षेत्र में अशोक की नीति राज्यविस्तार की थी। प्राचीन भारतीय राजाओं की भाँति उसका भी आदर्श दिग्विजय द्वारा साम्राज्य विस्तार था। कश्मीर पर आक्रमण कर उसने उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया था। राजतरंगिणी, कश्मीर

के प्राचीन ऐतिहासिक ग्रंथ में अशोक को प्रथम सम्राट के रूप में व्यक्त किया गया है।

4.3.4.1. कलिंग युद्ध– अशोक ने कलिंग राज्य पर आक्रमण कर दिया। कलिंग पूर्वी समुद्र तट पर स्थित महानदी और गोदावरी नदियों के बीच एक प्रबल राज्य था, जिसके पास विशाल सेना थी। नंदवंश के पतन के पश्चात् संभवतः कलिंग ने अपने को स्वतंत्र कर लिया था। अशोक के तेरहवेंशिलालेख से ज्ञात होता है कि अशोक ने कलिंग से युद्ध करके उसे उपयोगी समझ कर उस पर अधिकार कर लिया। इसके लिए उसे भीषण युद्ध का सामना करना पड़ा। तेरहवें शिलालेख के अनुसार इसमें लगभग एक लाख लोग मारे गए। लगभग डेढ़ लाख लोग हताहत हुए, बंदी बना लिए गए। इन हताहतों में योद्धा और साधारण व्यक्ति सभी सम्मिलित थे। लाखों स्त्रियाँ और बच्चे अनाथ हो गए। इतने भीषण रक्तपात और निर्मम हत्याकाड के उपरांत कलिंग का राज्य मगध साम्राज्य का प्रांत बना लिया गया।

कलिंग युद्ध परिणाम व महत्व– कलिंग युद्ध में भीषण नरसंहार हुआ, जिसे देखकर अशोक द्रवित हो गया। अशोक ने संसार में सर्वप्रथम सम्राट के रूप में भविष्य में युद्ध न करने की घोषणा की। उसके विचार परिवर्तित हो गए, उसने विस्तारवादी एवं साम्राज्यवादी नीति को त्याग दिया। उसने निश्चय कर लिया कि वह राज्यविस्तार की नीति का परित्याग कर देगा और भविष्य में कभी युद्ध नहीं करेगा। इस युद्ध के पश्चाताप के परिणामस्वरूप अशोक ने अहिंसावादी बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया। युद्ध के स्थान पर उसने सबसे मैत्री रखने का निश्चय किया। उसके विचार से वास्तविक विजय धर्मविजय की थी। अपने लिए हुए संकल्प को अशोक ने जीवन भर निभाया। यद्यपि अशोक के काल में मौर्य साम्राज्य काफी विस्तृत हो चुका था, परंतु फिर भी उसकी सीमाओं पर अनेक छोटे राज्य थे, जिन्हें जीतने का प्रयत्न अशोक ने कभी नहीं किया। अशोक ने अपने उत्तराधिकारियों को भी युद्ध न करने का उपदेश दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके कुछ उत्तराधिकारियों ने उसकी अहिंसावादी नीतियों को अपनाया।

अशोक द्वारा अहिंसानीति को अपनाना मगध साम्राज्य के लिए बड़ा अहितकर सिद्ध हुआ। उत्तरोत्तर मगध साम्राज्य पतनोन्मुख होने लगा। कलिंग युद्ध के पश्चात् अशोक ने अपना पूर्ण जीवन बौद्ध धर्म के प्रचार में अर्पित कर दिया और भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का बाहर के देशों में प्रचार किया। इस दृष्टिकोण से कलिंग युद्ध का महत्व विश्व के इतिहास में भी बहुत है। अशोक के प्रचारकों के माध्यम से भारतीय धर्म विशेषतया बौद्ध धर्म और संस्कृति विदेशों में पहुँची और भारत का विदेशी विचारधाराओं के साथ आदान-प्रदान प्रारंभ हुआ। धर्म प्रचार के लिए अशोक ने एक भाषा प्राकृत एक लिपि– ब्राह्मी (कहीं कहीं खरोष्ठी) को अपनाया, जिससे भारतीय एकता भी सुदृढ़ हुई, पर देश के एकीकरण में उसने ब्राह्मी, खरोष्ठी, आरामाइक और यूनानी सभी लिपियों का सम्मान किया।

4.3.5. अशोक का (धम्म) धर्म

विश्व के इतिहास में अशोक इसलिए विख्यात है कि उसने निरंतर मानव की नैतिक उन्नति के लिए प्रयास किया। जिन सिद्धांतों के पालन से नैतिक उत्थान संभव था, अशोक के लेखों में उन्हें 'धम्म' इंगित किया है। अशोक के स्तंभ लेखों में धम्म की व्याख्या इस प्रकार की गई है– धम्म है साधुता, बहुत से कल्याणकारी अच्छे कार्य करना, पाप रहित होना, मृदुता, दूसरों के प्रति व्यवहार में मधुरता, दान, दया तथा शुचिता। इसके साथ ही प्राणियों का वध न करना, जीव हिंसा न करना, माता-पिता तथा बड़ों की आज्ञा

मानना, गुरुजनों के प्रति आदर, मित्र, संबंधियों, ब्राह्मण तथा श्रमणों के प्रति दानशीलता तथा उचित व्यवहार और दास के प्रति उचित व्यवहार। इन गुणों के अतिरिक्त शिष्य द्वारा गुरु का आदर भी धम्म के अंतर्गत माना गया है। एक अन्य स्थान पर अशोक ने अल्प व्यय तथा अल्प संग्रह को भी धम्म का अंग माना है। इसके साथ ही धम्म की प्रगति में बाधक पाप की भी व्याख्या की है– निष्ठुरता, क्रोध, ईर्ष्या आदि पाप के लक्षण हैं। इसके अतिरिक्त आत्म-परीक्षण पर बल दिया है।

वास्तव में अशोक का धम्म कोई संकीर्ण तथा साम्प्रदायिक धर्म नहीं था। अशोक के धार्मिक जीवन और विचारों पर कलिंग के युद्ध का बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इस युद्ध का उसके हृदय पर गहरा असर पड़ा और वह बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। इसके पूर्व अशोक शैव था और उसे नरसंहार, पशुबलि से कोई विरोध नहीं था। सम्राट बनने के आठ वर्ष बाद तक वह इसी स्थिति में रहा। राज्यारोहण के नवें वर्ष उसने कलिंग के शक्तिशाली राज्य पर आक्रमण किया एवं भीषण संग्राम के पश्चात् उसे विजय प्राप्त हुई। युद्ध भूमि के करुण क्रंदन का उस पर प्रभाव पड़ा, उसका हृदय करुणा से भर गया तथा उसने भविष्य में युद्ध न करने का दृढ़ निश्चय किया। इसके पश्चात् वह बौद्ध भिक्षु के संपर्क में आया, बौद्ध धर्म के प्रति उसकी रुचि बढ़ गई और उसने बौद्ध मत ग्रहण कर लिया। अशोक का धम्म क्या था, इस विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद हैं। डॉ. आर.डी. भंडारकर के अनुसार "अशोक का धम्म धर्मनिरपेक्ष बौद्ध धर्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है।" डॉ. एन.के. शास्त्री ने लिखा, "अशोक ने बौद्ध धर्म को एक शुष्क बौद्धिक ज्ञान की खोज के स्थान पर एक आकर्षक, भावनात्मक एवं लोकप्रिय धर्म में परिवर्तित कर दिया।" डॉ. स्मिथ ने लिखा, "अशोक का धम्म किसी एक संप्रदाय विशेष से संबंधित न था, अपितु वह सभी भारतीय धर्मों के लिए समान था।"

जिन कारणों से अशोक के धम्म का निर्माण हुआ, उनमें यह आवश्यक था कि अपने व्यक्तिगत धर्म तथा उस धर्म में अंतर करता जिसे वह अपनी प्रजा में फैलाना चाहता था। एक प्रकार से अशोक का व्यक्तिगत धर्म तो बौद्ध धर्म था, परंतु जिस धर्म को उसने अपनी प्रजा में फैलाने का प्रयत्न किया, वही उसका धर्म अथवा 'धम्म' कहे जाने का अधिकारी है। डॉ. रोमिला थापर ने लिखा है, "अशोक निश्चित ही बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित हुआ और उसका अनुयायी बन गया। लेकिन उसके समय का बौद्ध धर्म केवल एक धार्मिक विश्वास न था अपितु वह विभिन्न स्तरों पर समाज को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करने वाला एक कुशल राजनीतिज्ञ के लिए उससे समझौता करना आवश्यक था।''

उपर्युक्त आधारों पर अशोक ने अपने धर्म (धम्म) का निर्माण किया। 'धम्म' प्राकृत भाषा का शब्द है, जिसे संस्कृत भाषा में धर्म कहते हैं। धर्म की व्याख्या अथवा उसका दर्शन अत्यंत विस्तृत है और उसी विस्तृत आधार पर अशोक ने अपने धर्म का निर्माण किया।

अशोक के बौद्ध होने का स्पष्ट प्रमाण उसके चतुर्दश शिलालेखों में से तेरहवें शिलालेख में मिलता है। अशोक ने बुद्ध मत के व्यावहारिक पक्ष के समर्थक सिद्धांतों का प्रचार आरंभ किया। उसके द्वारा प्रचार किए जाने वाले धर्म को 'अशोक का धम्म' कहा जाता है। अशोक का धम्म तत्कालीन सभी धर्मों का सार था। उस पर सभी धर्मों का प्रभाव था। उसके धम्म से अभिप्राय आचार के सर्वसम्मत नियमों से था। दया, दान, सत्य, गुरुजन तथा माता-पिता की सेवा, अहिंसा आदि गुण ही अशोक के धम्म थे। उसने अनेक स्थानों पर जनता के साधारण व्यवहारों और धम्म व्यवहार में तुलना की है। उसने ऐसे नैतिक सिद्धांतों का प्रचार किया जिन्हें प्रत्येक जाति, धर्म तथा देश के व्यक्ति मान सकते थे। वस्तुतः अशोक ने जिस धर्म को अपनाया और प्रचार किया वह सर्वहितकारी तथा लोक कल्याणकारी धर्म था।

अशोक का धम्म अत्यधिक मानवीय था। इस धर्म के प्रचार से अशोक अपने साम्राज्य के लोगों में तथा बाहर अच्छे जीवन के आदर्श को चरितार्थ करना चाहता था। उसका अपने शासनकाल में निरंतर यह प्रयास रहा कि प्रजा के सभी वर्गों और संप्रदायों के बीच सहमति का आधार बना रहे। उसके धम्म की सबसे बड़ी विशेषता सहिष्णुता की भावना थी। वह संसार की सभी जातियों और धर्मों में समन्वय स्थापित करना चाहता था। उसने पारंपरिक सहिष्णुता तथा श्रद्धा पर विशेष बल दिया और इन भावनाओं को दृढ़ करने के लिए कई मार्गों का प्रतिपादन किया। उसके अनुसार किसी भी धर्म की निंदा नहीं करनी चाहिए एवं सभी धर्मों के मूल तत्वों की अभिवृद्धि करने का प्रयास करना चाहिए। अपने धर्म के धार्मिक ग्रंथों का अनुशीलन करना चाहिए। अपने धर्म का आदर करना एवं दूसरे धर्मों का अनादर करने से अपने धर्म को हानि पहुँचती है, अतः दूसरे धर्मों का भी आदर करना चाहिए।

अशोक ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति को उपदेश तक ही सीमित नहीं रखा अपितु अपने जीवन में भी उसे पूर्ण रूप से चरितार्थ किया। उसने अहिंसा के सिद्धांत को मनुष्य तक ही सीमित न रखते हुए पशु पक्षियों के जीवन को भी पवित्र माना।

4.3.5.1. अशोक के धर्म प्रचार के कार्य– बौद्ध धर्म अंगीकार करने के पश्चात् अशोक ने उसका विपुल प्रचार किया। उसके साम्राज्य में सभी धार्मिक संप्रदायों को अपना धर्म पालन करने की पूरी स्वतंत्रता प्राप्त थी परंतु फिर भी उसने साम्राज्य में तथा विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए भारी प्रयत्न किए। कलिंग युद्ध के पश्चात् उसने यह प्रतिज्ञा ली थी कि वह रणघोष के स्थान पर धर्मघोष करेगा। अपने सप्तम अभिलेख में उसने कहा कि, "मैं धर्म की घोषणा करूँगा। धार्मिक शिक्षाओं का प्रचार करूँगा। जो लोग उसे सुनेंगे उसके अनुसार आचरण करने के लिए प्रेरित होंगे, उनका आध्यात्मिक विकास होगा और धर्म की वृद्धि के साथ उनकी वृद्धि होगी।'' इस लेख द्वारा हमें अशोक के धर्मप्रचार के उद्देश्य का बोध होता है।

सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म को राजधर्म के रूप में प्रतिष्ठापित किया। अशोक के उत्तराधिकारियों द्वारा भी इसे स्वीकार किए जाने के कारण यह धर्म बहुत वर्षों तक राजधर्म रहा। अशोक ने धर्मप्रचार के लिए बड़ी लगन और उत्साह से कार्य किए। अहिंसा के प्रचार के लिए कई कदम उठाए। उसने युद्ध बंद कर दिए और स्वयं को तथा राजकर्मचारियों को मानव-मात्र के नैतिक उत्थान में लगाया। जीवों के वध रोकने के लिए हर संभव प्रयास किए। अशोक ने घोषणा की कि ऐसे सामाजिक उत्सव नहीं होने चाहिए जिनमें अनियंत्रित आमोद-प्रमोद हो, जैसे मांस भक्षण, मल्लयुद्ध, जानवरों की लड़ाई आदि। इनके स्थान पर धम्म सभाओं की व्यवस्था की गई, जिससे जनता में धम्म के प्रति अनुराग पैदा किए जाने का प्रयास होता था। अशोक ब्राह्मणों, श्रमणों को दान देता था।

धर्मविजय के लिए ही अशोक ने धर्म-यात्राएँ प्रारंभ कीं। इससे पूर्व सम्राट आनंद व मौज के उद्देश्य से यात्राएँ करते थे, वे विहार-यात्राएँ करते थे। अशोक ने धर्म यात्राएँ प्रारंभ की। इनमें श्रमणों, ब्राह्मणों और वृद्धों का दर्शन, उन्हें दान देना, जनता के पास जाकर उसे उपदेश देना और धर्म विषयक विचार करना होता था। अपने राजकर्मचारियों को अशोक ने यह आदेश दिया कि वे जनता के कल्याण के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहें, किसी को अकारण दंड न दें और किसी के प्रति कठोरता का बर्ताव न करें।

अशोक ने एक नवीन प्रकार के कर्मचारियों की नियुक्ति की, जिन्हें धम्ममहामात्र कहा गया है। इनका मुख्य कार्य जनता को धम्म की बातें समझाना, उनमें धम्म के प्रति रुचि पैदा करना था। वे समाज के सभी वर्गों

के कल्याण तथा सुख के लिए कार्य करते थे। उनका कार्य धर्म के मामले में लोगों में सहमति बढ़ाना भी था। लोगों की अन्याय से रक्षा करना, कारावास के कैदियों को मुक्त कराना या उनका दंड कम करवाना भी उनका कार्य था। इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्ममहामात्रों तथा उनके अधीनस्थ कर्मचारियों का कार्य सभी संप्रदायों में मेल कायम करवाना एवं जनता के हित और सुख के लिए यत्न करना था। ये धर्म महामात्र केवल मौर्य साम्राज्य में नहीं अपितु सीमांतवर्ती स्वतंत्र राज्यों में भी नियुक्त किए गए थे।

विदेशों में धर्म विजय के लिए जो महामात्र नियुक्त किए गए थे, वे अंत महामात्र कहलाते थे। इनका कार्य उन देशों में सड़कें बनवाना, सड़कों पर वृक्ष लगवाना, कुएँ खुदवाना, प्याऊ बिठाना, पशुओं और मनुष्यों की चिकित्सा के लिए चिकित्सालय खुलवाना और इसी प्रकार के अन्य उपायों से जनता का हित और कल्याण संपादित करना था। अशोक के इन लोकहितकारी कार्यों के परिणामस्वरूप लोग महामात्रों को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे। अशोक इन परोपकारी कार्यों के द्वारा इन विदेशी राज्यों में अपना धर्म-साम्राज्य स्थापित करने में सफल हुए। इन धर्म विजय की नीति के कारण ही अन्य देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। इतने सुसंगठित रूप से कार्य करने के परिणामस्वरूप सम्राट को अपने उद्देश्य में आशा के अनुरूप सफलता मिली।

अशोक ने धम्म प्रचार के लिए विभिन्न साधनों का प्रयोग किया। उसने विभिन्न स्थानों पर शिलाओं तथा स्तंभों पर अपने विचारों को लिखवाया। ये शिलोलख एवं स्तंभलेख उसके प्रचार के साधन बने। इन अभिलेखों को चार भागों में बाँटा जा सकता है–

(1) चौदह शिलालेख– ये शाहबाजगढ़ी (पेशावर), मंसेहरा (हजारा), कालसी (देहरादून), गिरनार (काठियावाड़), सोपारा (थाना) (मुंबई), धौली और जौगढ़ (उड़ीसा) तथा चेर्रागुड्डी (कुर्नूल जिला) में पाए गए हैं जिनकी कुल संख्या 14 है।

(2) लघु शिलालेख– ये रूपनाथ (जबलपुर), वैराट (जयपुर), सहसराम (बिहार), मस्की (रायपुर), मैसूर में पाँच स्थानों पर, गुजरी (मध्य प्रदेश), कुर्नूल में एक स्थान पर, उत्तर प्रदेश में मिर्जापुर जिले में एक स्थान पर और एक आंध्र प्रदेश में प्राप्त हुए हैं। इनकी कुल संख्या 13 है।

(3) सात स्तंभ अभिलेख– ये भारत के पृथक-पृथक सात स्थानों पर प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक स्तंभ को फिरोज शाह तुगलक दिल्ली ले गया था।

(4) अन्य अभिलेख– ये रूम्मिनदेई (लुंबिनीवन), तक्षशिला, जलालाबाद, बराबर आदि विभिन्न स्थानों पर पाए गए हैं।

4.3.5.2. तृतीय बौद्ध संगीति का आयोजन– अपने शासनकाल के सतरहवें वर्ष में अशोक ने बौद्ध संघ की आंतरिक फूट को दूर करने के लिए साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में एक सभा बुलाई, यह तृतीय बौद्ध संगीति थी। इसमें देश भर के बौद्ध भिक्षु शामिल हुए। इस संगीति का अध्यक्ष मोग्गलिपुत्र तिस्स (Moggaliputta-Tissa) थे। कुछ ग्रंथों में इसी को उपगुप्त भी लिखा गया। इस महासभा द्वारा भी यह प्रयत्न किया गया कि विविध बौद्ध संप्रदायों के मतभेदों को दूर कर सत्य सिद्धांतों का निर्णय किया जाए। इस कार्य के लिए आचार्य तिस्स द्वारा हजार विद्वान एवं अनुभवी भिक्षुओं का चुनाव किया गया। आचार्य तिस्स की अध्यक्षता में नौ मास तक इन भिक्षुओं की सभा होती रही। इस सभा में धर्म संबंधी विवादग्रस्त विषयों पर विचार हुआ। इस सभा ने बौद्ध धर्म में फैलती हुई फूट का विनाश किया और धर्म को दृढ़ता प्रदान की गई। इस

सभा के बाद विदेशों में प्रचारक भेजने का कार्य तेजी से हुआ। अशोक के समय में पाटलिपुत्र में हुई इस महासभा और आचार्य तिस्स के पुरुषार्थ के परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म भारत से बहुत दूर-दूर तक के देशों में फैल गया।

4.3.5.3. विदेशों में धर्म-प्रचार– बौद्ध धर्म के आंतरिक झगड़ों के समाप्त हो जाने और संघ में एकता स्थापित हो जाने पर आचार्य तिस्स ने देश-विदेश में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए एक महान योजना तैयार की। सम्राट अशोक ने बौद्ध भिक्षुओं, भिक्षुणियों, धर्म प्रचारकों, उपदेशकों तथा यहाँ तक कि राज परिवार के सदस्यों को भी विदेशों में भेजा। ये सभी लंका, सुमात्रा, चीन, जापान, एशिया माइनर, यूनान और उत्तरी अफ्रीका के मिस्त्र आदि देश गए। सिंहल द्वीप जाने वाले जत्थे का नेतृत्व सम्राट अशोक के पुत्र राजकुमार महेंद्र तथा पुत्री संघमित्रा ने किया था। अपनी इस धर्म विजय के विषय में अशोक स्वयं कहता है कि "देवनामप्रिय धर्म के द्वारा इस विजय को मुख्य विजय समझता है। पड़ोसी देशों, यहाँ तक कि छह सौ योजन दूर के देशों में भी यह विजय देवनामप्रिय को मिली है।" ये बौद्ध प्रचारक अपने साथ अपने देश की सभ्यता और संस्कृति भी ले गए।

4.3.5.4. अशोक की धर्मनीति का प्रभाव– अशोक का धम्म रूढ़िवादी, कर्मकाण्ड नीति, दर्शनमूलक अथवा सूक्ष्मतत्वापेक्षी न था। वह तो अति सरल, विशुद्ध, व्यावहारिक और सर्वग्राह्य आचार तत्वों से समन्वित था। अशोक के अनुसार धार्मिक कलहों का प्रधान कारण धर्मों के कर्मकाण्ड होते हैं, जबकि आधारमूलक रूप सर्वत्र समान ही होता है। उसने धर्म विजय को साधारण विजय से अधिक कल्याणकर बताया है। अशोक का धम्म मानव जगत के लिए ही नहीं वरन् समस्त प्राणी जगत के लिए था। अतः उसने हिंसात्मक मनोरंजन के कारण विहारयात्राओं का परित्याग कर दिया। आम्र कुंज लगवाए, प्रति दो मील पर कुएँ खुदवाए, धर्मशालाएँ, जलशालाएँ बनवाई। उसने अपनी पाकशाला के लिए भी जीव हिंसा बंद करवा दी। उसके संपूर्ण शासन की आधार पीठिका धम्म थी। उसने अपने धम्म में अधिकांशतः उन्हीं सिद्धांतों का समावेश किया था, जो उसके साम्राज्य के विभिन्न संप्रदायों को भी मान्य हों।

अशोक द्वारा बौद्ध धर्म को स्वीकार करने का भारत के इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ा। साम्राज्य विस्तार की नीति को त्याग कर धर्म विजय को लक्ष्य बनाकर उसने भारतीय इतिहास को एक नई दिशा दी। अशोक ने मात्र इस धर्म को अपनाया ही नहीं, अपितु इसका बड़ा धर्म प्रचारक हो गया। उसने विदेशों में भी धर्म प्रचारक भेजे, जिसके परिणामस्वरूप भारतीयों का बाहरी देशों के साथ संपर्क स्थापित हुआ। इसके साथ ही वैचारिक आदान-प्रदान एवं व्यापारिक संबंध भी कायम हुए। एक प्रकार से भारत के संबंध का क्रमिक इतिहास यहाँ से शुरु होता है। राज्याश्रय प्राप्त होने के कारण बौद्ध धर्म फलने-फूलने लगा, अन्यथा संभव है कि यह धर्म धीरे-धीरे लुप्त हो गया होता। अशोक के आश्रय दिए जाने के कारण यह एक सशक्त आंदोलन के रूप में आगे बढ़ा।

भारत के कई पड़ोसी देशों में आज भी बौद्ध धर्म प्रचलित है। लंका, बर्मा, श्याम (थाइलैंड) आदि देशों से भारत के संबंध के पीछे बौद्ध धर्म का प्रमुख हाथ था। तत्कालीन भारत को तो इसने प्रभावित किया ही, साथ ही आधुनिक काल के इतिहास को भी प्रभावित किया है।

इन सभी प्रभावों के साथ अशोक की धार्मिक नीति का एक प्रमुख दुष्परिणाम भी निकला। अशोक की धर्म विजय और अहिंसा की नीति के फलस्वरूप मौर्य समाज की सैनिक शक्ति क्षीण हो गई और वह पतनोन्मुख हो गया।

4.3.6. सारांश

बिंदुसार का उत्तराधिकारी अशोक को प्राचीन भारत के सम्राटों में अद्वितीय माना जाता है। उसके प्रारंभिक जीवन के संदर्भ में कम जानकारी प्राप्त होती है। उसने सिंहासन प्राप्त करने के लिए अपने भाइयों से संघर्ष किया परंतु इस विषय में भी कुछ निश्चित प्रमाण नहीं मिलते हैं। साम्राज्य विस्तार की दृष्टि से उसने कलिंग पर आक्रमण किया, एक भीषण युद्ध हुआ, जिसमें अशोक की विजय हुई। इस युद्ध के भयावह दृष्य से द्रवित होकर अशोक ने साम्राज्य विस्तार की नीति को त्याग दिया। अहिंसा नीति को अपनाकर अपना पूर्ण जीवन बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अर्पित कर दिया। उसने बौद्ध धर्म के आदर्श की प्राप्ति के लिए सक्रिय प्रयत्न भी किए। उसने लोक कल्याण के विभिन्न कार्य किए। अशोक ने विहार-यात्राओं और शिकार को समाप्त कर दिया। उसके स्थान पर धर्म यात्राएँ आरंभ कीं। धम्म के विषय में लोगों में रुचि बढाने के लिए अशोक ने धम्म महामात्र नियुक्त किए। उसने लोकहित कार्य प्रारंभ किए। अपनी धर्म विजय की नीति के कारण विदेशों में भी धर्म प्रचार के मार्ग प्रशस्त किए। अशोक का धम्म सरल, विशुद्ध तथा व्यावहारिक था। वह केवल मानव के लिए ही नहीं अपितु सर्व प्राणी जगत के लिए था। अशोक के संपूर्ण शासन का आधार उसके धम्म पर केंद्रित था। अशोक के धम्म का प्रभाव भारत के इतिहास पर भी पड़ा। आज भी भारत के कई पड़ोसी देशों में बौद्ध धर्म प्रचलित है।

4.3.7. बोध प्रश्न

1. अशोक साम्राज्य विस्तार के प्रयत्न में कहाँ तक सफल हुए?
2. अशोक के धम्म से आप क्या समझते है? उसकी क्या विशेषताएँ थीं?
3. अशोक के धम्म से आप क्या समझते है? उसने उसके प्रचार के लिए किन साधनों का प्रयोग किया?
4. सम्राट अशोक को महान क्यों कहा जाता है?
5. एक शासक और धर्म प्रचारक के रूप में अशोक का मूल्यांकन कीजिए?

4.3.8. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1. थापर, रोमिला. (1994). भारत का इतिहास. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि।
2. पाण्डेय, विमलचन्द्र. (2002). प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास (भाग-1). इलाहाबाद : सेंट्रल पब्लिशिंग हाउस।
3. वर्मा, दीनानाथ. (2002). प्राचीन भारत. नई दिल्ली : ज्ञानदा प्रकाशन।
4. शर्मा, एल. पी. (2007). प्राचीन भारत. आगरा : लक्ष्मी नारायण अग्रवाल
5. थापर, रोमिला, अशोक एवं मौर्य साम्राज्य का पतन

खंड - 4 : महाजनपद से मौर्य साम्राज्य
इकाई - 4 : मौर्य साम्राज्य का पतन

इकाई की रूपरेखा

4.4.1. उद्देश्य
4.4.2. प्रस्तावना
4.4.3. मौर्य साम्राज्य के पतन की पृष्ठभूमि
4.4.4. मौर्य साम्राज्य के पतन के कारण
- **4.4.4.1. राजतंत्रात्मक शासन का अटल दोष**
- **4.4.4.2. केंद्रीय शासन की निर्बलता**
- **4.4.4.3. प्रांतीय शासकों का अत्याचार**
- **4.4.4.4. राजाओं का अत्याचार**
- **4.4.4.5. राजसभा में गुटबंदी**
- **4.4.4.6. आर्थिक दुर्बलता एवं करों की अधिकता**
- **4.4.4.7. गुप्तचर विभाग में संगठन का अभाव**
- **4.4.4.8. अशोक की धार्मिक नीति एवं सैनिक शक्ति का ह्रास**
- **4.4.4.9. ब्राह्मण प्रतिक्रिया**

4.4.5. सारांश
4.4.6. बोध प्रश्न
4.4.7. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

4.4.1. उद्देश्य

कौटिल्य के निर्देशन में 322 ई.पू. में चंद्रगुप्त मौर्य ने विख्यात राजवंश की नींव डाली थी। इसी वंश का सम्राट अशोक भारतीय इतिहास का एक आदर्श एवं विश्व का महान सम्राट था। अशोक की मृत्यु के पश्चात् 184 ई.पू. में मौर्य वंश का पतन हो गया। मौर्य वंश के पतन के कारणों पर प्रकाश डालना इस इकाई का मुख्य उद्देश्य है।

4.4.2. प्रस्तावना

कौटिल्य के निर्देशन में चंद्रगुप्त मौर्य ने 322 ई.पू. में मौर्य राजवंश की नींव डाली थी, वह राजवंश 184 ई.पू. में धराशायी हो गया। एक लंबे और महत्वपूर्ण शासन के उपरांत अशोक की232 ई.पू. में मृत्यु हो गई। इसके उपरांत का इतिहास बहुत कुछ अंधकारमय ही है। परंतु इतना निश्चित है कि मौर्य साम्राज्य धीरे-धीरे पतनोन्मुख होने लगा। अशोक के सभी उत्तराधिकारी अयोग्य सिद्ध हुए एवं साम्राज्य की समुचित रक्षा करने में

असमर्थ रहे। इसके परिणामस्वरूप साम्राज्य के धीरे-धीरे टुकड़े होते गए और अशोक की मृत्यु के पचास वर्षों के भीतर ही मगध का साम्राज्य मौर्यों के हाथ से निकल गया।

अशोक के उपरांत मौर्य वंश में कोई भी पराक्रमी सम्राट नहीं हुआ। ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन-ग्रंथों में अशोक के उत्तराधिकारियों की अनेक सूचियाँ मिलती हैं, किंतु वे सभी एक दूसरे से भिन्न हैं। सभी सूचियों का सूक्ष्म अवलोकन करने के बाद अधिकांश विद्वानों के अनुसार अशोक के बाद उसके पुत्र कुणाल के पुत्र संप्रति के हाथ में सत्ता थी और इसी कारण बौद्ध तथा जैन ग्रंथों में अशोक के बाद संप्रति का नाम मिलता है। डॉ. स्मिथ का विचार है कि अशोक की मृत्यु के उपरांत मगध साम्राज्य दो भागों में बँट गया था और पूर्वी भाग पर दशरथ तथा पश्चिमी भाग पर संप्रति का अधिकार था। ऐसा प्रतीत होता है कि दशरथ की मृत्यु के बाद पूर्वी क्षेत्र भी संप्रति के अधीन आ गया था, क्योंकि मत्स्यपुराण और विष्णुपुराण में संप्रति के बाद शालिसुक का नाम आता है। पुराणों में शालिसुक के बाद देववर्मन, शतधन्वन् और अंत में बृहद्रथ के नाम मिलते हैं। बृहद्रथ मौर्य वंश का अंतिम शासक था, वह अत्यंत अयोग्य था। अतः 184 ई.पू. में इसके सेनापति पुष्यमित्र ने इसकी हत्या कर शुग वंश की स्थापना की।

4.4.3. मौर्य साम्राज्य के पतन की पृष्ठभूमि

कुछ विद्वानों के अनुसार मौर्य वंश के प्रति ब्राह्मणों के विद्रोह ने ही मौर्य वंश को जड़ से उखाड़ फेंका। हर प्रसाद शास्त्री ने अशोक की धार्मिक नीति को ही साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण बताया है। उनके अनुसार अशोक की धार्मिक नीति बौद्धों के पक्ष में थी और ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों व उनकी सामाजिक श्रेष्ठता की स्थिति पर कुठाराघात करती थी। इस मत की आलोचना इतिहासकार हेमचंद्र राय चौधरी ने की। उनके अनुसार अशोक की शांतिप्रियता तथा अहिंसा की नीति साम्राज्य के पतन का कारण बनी। अहिंसा आदि के सिद्धांत भी वैदिक धर्म के नितांत प्रतिकूल नहीं थे। वस्तुतः मौर्य वंश का पतन न आकस्मिक था और न किसी एक कारण से उद्भूत। बहुत दिनों से अनेकानेक कारण मौर्य साम्राज्य को निर्बल बनाने में सहयोग दे रहे थे और एक दिन ऐसा आया जब उनके सम्मिलित प्रभावों से जर्जरित मौर्य साम्राज्य धराशायी हो गया।

4.4.4. मौर्य साम्राज्य के पतन के कारण

4.4.4.1. राजतंत्रात्मक शासन का अटल दोष– राजतंत्रात्मक शासन अपने स्थायित्व के लिए बहुत कुछ राजा की व्यक्तिगत योग्यता पर निर्भर रहता है। परिणामस्वरूप 'राजा' जब तक सुस्थिर, सुदृढ़ और सुनिश्चित होता है तब तक शासन सुचारू रूप से चलता है। जब केंद्र अशक्त, स्थिर और अनिश्चित हो जाता है तब उसके अवयव भी अनिश्चित हो जाते हैं। इन्हीं कारणों से राजतंत्रांत्मक शासन की स्थिरता अथवा अस्थिरता राजा की व्यक्तिगत योग्यता अथवा अयोग्यता पर निर्भर करती है। अशोक के काल तक मौर्य शासक सुयोग्य और शक्तिशाली रहे। परंतु अशोक के उपरांत कोई भी शासक उतना सुयोग्य और शक्तिशाली नहीं हुआ। अशोक के विशाल साम्राज्य का भार उन उत्तराधिकारियों के कंधों पर पड़ा, जिनके कंधे इस योग्य ही नहीं थे। अशोक की मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न होने वाली पारस्परिक विरोधी शक्तियों को वे रोकने में असमर्थ रहे। परिणामस्वरूप मौर्य साम्राज्य के विभिन्न भाग स्वतंत्र होते गए और अंत में उसका पूर्ण पतन हो गया।

4.4.4.2. केंद्रीय शासन की निर्बलता– अयोग्य उत्तराधिकारियों के कारण केंद्रीय शासन निर्बल हो गया। इस निर्बलता के कारण मौर्य साम्राज्य के दूरस्थ प्रदेशों ने अपनी स्वतंत्रता घोषित करनी प्रारंभ कर दी। 'राजतरंगिणी' के कथनानुसार अशोक की मृत्यु के पश्चात् उसके एक पुत्र जालौक ने कश्मीर में अपना एक स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। तिब्बत के इतिहासकार तारानाथ का विचार है कि वीरसेन ने जो मगध की गद्दी का स्वामी और अशोक के उत्तराधिकारियों में से एक था, गंधार का राज्य छीन लिया। इस तरह साम्राज्य का पतन हो गया और अशोक के उत्तराधिकारी साम्राज्य को छिन्नभिन्न होने से नहीं रोक सके।

4.4.4.3. प्रांतीय शासकों का अत्याचार– मौर्यों के पतन का एक और कारण था - दूर के प्रांतों के शासकों द्वारा प्रजा का उत्पीड़न। समय-समय पर अपने शासकों के अत्याचारों से क्षुब्ध होकर प्रांतीय प्रजा ने विद्रोह भी किया था। 'दिव्यावदान' में भी इस प्रकार के दो विद्रोहों का उल्लेख मिलता है। बिंदुसार के समय में तक्षशिला के लोगों ने वहाँ के शासक के अन्यायपूर्वक व्यवहार के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाया था। अशोक के काल में भी एक बार तक्षशिला में विद्रोह हुआ था। इसे दबाने के लिए कुणाल को भेजा गया था। इसका कारण भी प्रांतीय शासकों का अत्याचार था।

अशोक के कलिंग अभिलेख से भी प्रांतीय शासकों की अत्याचारपूर्ण मनोवृत्ति के संकेत मिलते हैं। इसमें अशोक अपने प्रांतीय अधिकारियों के विरुद्ध जनता का उत्पीड़न करने का आरोप लगाता है। साथ ही चेतावनी भी देता है कि प्रांतीय शासक प्रजा को उसकी संतान समझें और उनकी भलाई करें। साथ ही अशोक ने विषेशाधिकारियों द्वारा प्रति पाँचवें वर्ष दौरे की योजना भी घोषित की थी। इस अभिलेख में तक्षशिला और उज्जैन का उल्लेख हुआ है। इन दो नगरों में अत्याचारपूर्ण नीति ने वहाँ की जनता के हृदय में मौर्य-साम्राज्य के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर दी थी। अंततः अशोक की मृत्यु के उपरांत अवसर मिलते ही वे मौर्य साम्राज्य से पृथक हो गए। कुछ इतिहासकारों के अनुसार प्रांतीय शासन के अत्याचार ही मौर्य-साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण था।

4.4.4.4. राजाओं का अत्याचार– परवर्ती मौर्य नरेश न केवल अयोग्य थे, अपितु अत्याचारी भी थे। गार्गी संहिता में शालिसुक को अत्यंत अत्याचारी बताया गया है। फलस्वरूप राजा द्वारा पीड़ित जनता भी मौर्य शासन का विरोध करने लगी थी।

4.4.4.5. राजसभा में गुटबंदी– साहित्यिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि अशोक के समय में उत्तराधिकार युद्ध हुआ था तथा उसकी मृत्यु के बाद भी एक बार मौर्य साम्राज्य दो भागों में बँट गया था। अशोक के पुत्रों और पुत्रियों की स्वार्थपरता ने उन्हें एक दूसरे का विद्रोही बना दिया। उनकी फूट ने साम्राज्य की जड़ें खोखली कर डालीं। विद्रोह और अशांति के चिह्न सर्वत्र प्रकट होकर साम्राज्य को पतनोन्मुख बनाने लगे। अशोक के अयोग्य उत्तराधिकारियों के आपसी फूट का इतना प्राबल्य हुआ कि राज्य की समुचित व्यवस्था करने या कराने की उन्हें चिंता ही नहीं रही। फलस्वरूप साम्राज्य पतन की ओर जाने लगा। 'मालविकाग्निमित्रम्' से ज्ञात होता है कि बृहद्रथ के काल में राजसभा में सेनापति और सचिव के दो गुट बन गए थे और अंततः सेनापति पुष्यमित्र ने बृहद्रथ की हत्या कर मौर्य वंश का अंत कर दिया।

4.4.4.6. आर्थिक दुर्बलता एवं करों की अधिकता– कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित शासनव्यवस्था में करों की अधिकता दिखती है। यद्यपि यह संभव है कि कौटिल्य लिखित अर्थशास्त्र में वर्णित सभी कर प्रजा पर नहीं लगाए गए हों, परंतु उनसे कम से कम मौर्य व्यवस्थापिका की आधारभूत भावना का आभास मिलता है। कोशांबी के तर्क के अनुसार मौर्यों की आर्थिक अव्यवस्था दबावपूर्ण थी। अपने तृतीय शिलालेख में अशोक ने अपव्यय पर बल दिया है, एक अन्य शिलालेख में मंगल कार्यों पर रोक लगाई है, जिससे इंगित होता है कि अशोक के काल में अर्थव्यवस्था दुर्बल थी। वस्तुतः अशोक के राजकोष का अधिकांश धन लोकोपकारी कार्यों, स्तूपों, विहारों, अभिलेखों आदि के निर्माण, बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार, दान आदि में व्यय होता था और राजकोष खाली हो चला था। अर्थ-व्यवस्था को संतुलित करने के लिए मौर्य काल में राजाओं ने जनता पर बड़े-बड़े कर लगा रखे थे। अनुमानतः मौर्यों के धन-संग्रह ने जनता में असंतोष उत्पन्न किया होगा। 'अशोकावदान' का कथन है कि एक बार अशोक कुक्कुटराम विहार को धन-दान देना चाहता था, परंतु अमात्यों ने युवराज संप्रति को समझा कर यह दान रुकवा दिया। संभवतः राजकोष की चिंताजनक अवस्था से व्यग्र होकर ही अमात्यों ने यह कार्य करवाया होगा। राजकोष की आय कम हो जाने के कारण धनाभाव में साम्राज्य की संरक्षा और स्थिरता भी संभव नहीं थी।

4.4.4.7. गुप्तचर विभाग में संगठन का अभाव– चंद्रगुप्त मौर्य के समय गुप्तचर विभाग काफी संगठित था, अशोक के काल से गुप्तचर विभाग शिथिल पड़ने लगा था। विशाल साम्राज्य के लिए सुसंगठित गुप्तचर विभाग आवश्यक होता है। अस्तव्यस्त गुप्तचर व्यवस्था राज्य के लिए बहुत अहितकर सिद्ध हुई।

4.4.4.8. अशोक की धार्मिक नीति एवं सैनिक शक्ति का ह्रास– अशोक की अहिंसात्मक एवं धर्म-प्रचार नीति ने साम्राज्य की सैनिक शक्ति को क्षीण कर दिया था। अहिंसा व्यक्ति के लिए तो अवश्य व्यावहारिक हो सकती है परंतु राज्य के लिए नहीं। अशोक ने सैनिक बल को नहीं बल्कि उदारता, दया और सहिष्णुता को अपने साम्राज्य का आधार बनाया, जिससे साम्राज्य में सैनिक दुर्बलता आ गई और युद्ध की प्रवृत्ति जाती रही। इस समय भारत के पश्चिमोत्तर में बर्बर जातियाँ आक्रमण की ताक में थीं और भीतर दूरस्थ प्रदेश अपनी स्वतंत्रता की योजना बना रहे थे। इस स्थिति में देश को एक विशाल एवं संगठित सेना की आवश्यकता थी। परंतु अशोक के साम्राज्य की समस्त शक्तियाँ धर्म प्रचार में लगी थीं। देश को सैनिकों के स्थान पर भिक्षु मिले। वास्तव में अपने अस्तित्व को खतरे में डाल कर विश्वबंधुत्व की स्थापना का एक नूतन प्रयास चल रहा था।

अशोक की इस नीति का भारी दुष्परिणाम हुआ। देश-विदेश में धर्म-प्रचार हुआ और उदात्त सिद्धांतों का प्रतिपादन भी हुआ। अशोक ने अपने उत्तराधिकारियों को भी अपनी धम्म विजय का अनुसरण करने के लिए प्रेरित किया। उसके पौत्र संप्रति ने जैन धर्म का प्रचार किया और अन्य पौत्र दशरथ ने आजीविका भिक्षुओं के लिए बराबर की पहाड़ियों में गुफाएँ बनवाई। अशोक के एक अन्य उत्तराधिकारी शालिसुक ने धर्म विजय का प्रयत्न किया। इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि अशोक के धर्म-प्रचार का प्रभाव उसके उत्तराधिकारियों पर पड़ा और उन्होंने भी अपने-अपने ढंग से धर्म को अपनी नीति में महत्वपूर्ण स्थान दिया।

अशोक की इस नीति का भारी दुष्परिणाम हुआ। देश विदेशों में धर्म प्रचार तो हुआ पर साम्राज्य की सुरक्षा नहीं हो सकी। धर्म के अत्याधिक प्रचार और भेरीघोष की समाप्ति ने उसकी सेना के नियमित अभ्यास

को भारी धक्का पहुँचाया होगा। अहिंसा के सिद्धांत की स्थापना ने सैनिकों के मनोबल को गिराया होगा। जिस समय विदेशी आक्रमण हुआ उस समय सिकंदर का सामना करने वाले तथा सेल्यूकस को पराजित करने वाले भारतीय सैनिकों की तलवारों की धार कुंठित हो चुकी थी। उपर्युक्त कारणों ने मौर्य साम्राज्य की नींव को खोखला कर दिया था, अतः उसका पतन अवश्यम्भावी हो चुका था।

4.4.4.9. ब्राह्मण प्रतिक्रिया– पं. हर प्रसाद शास्त्री द्वारा प्रतिपादित मत के अनुसार अशोक की बौद्ध नीति से क्षुब्ध होकर ब्राह्मणों में प्रतिक्रिया हुई थी और उसी प्रतिक्रिया ने मौर्य साम्राज्य को ध्वस्त कर दिया था। शास्त्री द्वारा दिए गए तर्कों को रायचौधरी ने आदि से अंत तक नकारा है। परंतु मान्य मतों के अनुसार रायचौधरी का खंडन भी केवल आंशिक रूप से ही सत्य है। क्षत्रियों द्वारा ब्राह्मणेत्तर धर्मप्रचार और स्वधर्म (जन-संरक्षण के लिए युद्ध) का परित्याग निःसंदेह ब्राह्मणों की वर्ण-व्यवस्था का उल्लंघन था। अतः संभव है कि अशोक के इन कार्यों से ब्राह्मणों में असंतोष और प्रतिक्रिया की भावना उत्पन्न हुई हो। संभवतः इसी असंतोष से लाभ उठाकर उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने अंतिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ की हत्या की होगी। इन सब परिस्थितियों में अशोक को मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए आंशिक रूप से उत्तरदायी माना जा सकता है। वास्तव में मौर्य साम्राज्य पतन के कगार तक पहुँच चुका था, जिसे पुष्यमित्र ने समाप्त कर दिया। शांतिवादी नीति के कारण सैनिक असंतुष्ट थे और परिवर्तन चाहते थे। इसी परिस्थिति का लाभ उठाते हुए सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने अंतिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ का वध कर मगध की गद्दी पर अधिकार कर लिया।

4.4.5. सारांश

अशोक के उपरांत मौर्य वंश में कोई पराक्रमी सम्राट नहीं हुआ। धीरे-धीरे मौर्य साम्राज्य पतनोन्मुख होने लगा एवं अशोक की मृत्यु के पचास वर्षों के भीतर ही इसका पतन हो गया। पतन के कारणों में एक मुख्य कारण अशोक के अयोग्य उत्तराधिकारी थे। उनके निर्बल होने के कारण साम्राज्य के प्रांत एक-एक करके स्वतंत्र होने लगे। दूर प्रांतों के गवर्नर भी जनता के साथ अन्यायपूर्वक व्यवहार करने लगे। जिससे वहाँ पर विद्रोह की स्थिति उत्पन्न हो गई। सेना की उदासीनता व शिथिलता भी मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए जिम्मेदार थी। अशोक के काल से ही गुप्तचर व्यवस्था भी पतन का कारण बनी। अशोक की अहिंसा नीति भी साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी थी। साम्राज्य में सैनिक शक्ति दुर्बल हो गई। सैनिकों में धर्म प्रचार की व्यवस्था ने साम्राज्य पतन के बीज बो दिए। अंत में अंतिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ की हत्या करके पुष्य मित्र शुंग ने एक नए वंश की स्थापना की।

4.4.6. बोध प्रश्न

1. मौर्य साम्राज्य के पतन के कारण का परीक्षण कीजिए।
2. मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए आप किन कारणों को जिम्मेदार मानते हैं।
3. 'मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए अशोक स्वयं उत्तरदायी था।' स्पष्ट कीजिए।

4.4.7. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1. थापर रोमिला, (1994). *भारत का इतिहास.* नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.।
2. पाण्डेय, विमल चन्द्र. (2002). *प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास (भाग-1).* इलाहाबाद : सेंट्रल पब्लिशिंग हाउस।
3. वर्मा, दीनानाथ. (2002.) *प्राचीन भारत.* नई दिल्ली : ज्ञानदा प्रकाशन।
4. थापर, रोमिला, अशोक एवं मौर्य साम्राज्य का पतन